प्रकाशक,
श्री इन्द्रसेन जैन
मालिक—कुमार ब्रदर्स, केमिस्ट चांदनीचौक,
देहली।

मुद्रक
पाइनियर फाइन आर्ट प्रेस,
दिल्ली।

प्राक्कथन

यह बात निर्विवाद अक्षरश: सत्य है कि साधु सन्तों की पवित्र वाणी मोहनिद्रा से जगाने वाली, अज्ञान के थपेड़ों से त्राण करने वाली, मानव के हृदय में आध्यात्मिक पवित्र भाव भरने वाली, मनोमालिन्य मिटाने वाली और शाश्वत शान्तिदायी होती है, अथवा यों कहिए कि दानवता की जगह मानवता, क्रूरता की जगह सहृदयता, हिंसा की जगह अहिंसा, निर्दयता की जगह दयार्द्रता, अनाचारता की जगह प्रबल धार्मिकता के भावों को भरने वाली होती है।

अतीत इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि बडे-बडे शूरवीर, प्रचुर साधन सम्पन्न मानव भी जिस कठिनातिकठिन साधना को आत्म-बल की निर्बलता के कारण अशक्य मानते थे, किंतु महापुरुषों की आत्म-हृदय से निकली हुई ओजस्वी वाणी को सुनकर वे बड़े-बड़े असाध्य कार्य सहज मे ही कर डाले गए। वास्तव में त्यागी आत्माभिमुखी महापुरुषों की वाणी सचोट, भव्यात्माओं के हृदय पर जादू कासा असर कर जाती है। सच पूछो तो साधु-महात्मा ही देश की सच्ची सम्पत्ति हैं। आज का मनुष्य भौतिकवाद के पंजे मे इस प्रकार जकडा हुआ है, जिससे छुटकारा पाना अति कठिन है। आधुनिक जन समुदाय जो आत्मा, महात्मा, परमात्मा आदि सर्वोपरि तत्वों को भुलाकर भौतिकवाद का अनन्य उपासक बनता जा रहा है, उसे पुन: ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर महापुरुषों की वाणी द्वारा ही लाया जा सकता है।

इस ससार को उन महापुरुषों के दिव्योपदेश की अत्यावश्यकता है, जिसमें मानव के हृदय परिवर्तन करने की शक्ति हो, अन्तस्तल से बुराई भगाने और उसकी जगह भलाई भरने की क्षमता हो। यह कहना उचित ही होगा कि उन महाप्रवक्ता कल्याण-कर्ता साधु महापुरुषों की श्रेणी में से जैन भूषण, प्रचार मंत्री, प्रखर वक्ता, पंजाब-केशरी श्री प्रेमचन्द्र जी महाराज भी एक हैं। आपके ही प्रवचनों का यह संग्रह है प्रेम-सुधा पंचम भाग। पूर्व प्रकाशित "प्रेम-सुधा" के चार भागों में जनता को आत्मोद्बोधन की कितनी प्रेरणा मिली, इसका निर्णय करना तो मेरे बूते के बाहर है। तथापि इतना तो अवश्य कहा जा सकता है, जिन लोगों के हाथ मे "प्रेमसुधा" के ये भाग पहुँचे वे तो प्रेम-सुधा की प्रेम-मय सुधा का पान करके मस्त हो गये और अनायास ही बहुत-सी क्षुद्र, हीन भावनाओं से पिंड छुडा गये। आशा है इसी प्रकार यह पंचम भाग भी जनता के लिए अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

विश्व मे उभरती हुई दानवता के खिलाफ दहाडते हुए पंजाव-नर-केशरी जी महाराज की गर्जनाओं का यह पाचवा महत्व-पूर्ण अक्षरात्मक संग्रह है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि वस्तुतः सन्त हृदय से निकली हुई वाणी हृत्तन्त्री को झंकृत कर देने वाली होती है। यह अन्तर्मन को आलोडन करने वाले उन व्याख्यानों का संग्रह है, जिनसे खोई हुई मानवता लौटायी जा सकती है। भुलाया हुआ ज्ञान पुन. प्राप्त किया जा सकता है और हृदय में रही हुई विनाशकारी उन गलत भ्रान्त धारणाओं को समूल नष्ट किया जा सकता है जो मानव की सच्ची मानवता को अनादि काल से क्षत-विक्षत करती हुई आ रही है। इस पचम भाग से सम्यक्त्व के मूल तत्व को समझने के लिए सुलझे हुए विचार और मिथ्यात्व से ऊपर उठने की सद्प्रेरणा प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होती है। इसमे आत्मतत्त्व का

आध्यात्मिक निधि का अखूट खजाना निहित है और है वक्ता के अन्तरात्मा का परिचय तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र की दृढता के उच्च भाव और है मानव जगत् का अंतर्दर्शन और मनुष्य को महान् बनने का उद्बोधन भी।

आप देखेंगे कि इस भाग मे सम्यक्त्व प्राप्ति, मिथ्यात्व के विनाश व 'आत्म-दर्शन' आदि आत्मोन्नति में अत्यन्त सहायक विषयों पर दिए गए महाराज श्री के ऐसे परमोपयोगी प्रवचन सकलित किए गए हैं कि जिनके पठन-पाठन से मानव मे अनायास ही मानवता के गुणों का समावेश हो जाता है। जैसा कि महाराज श्री अपने प्रवचनों मे बार २ समझाया करते हैं कि मनुष्य मे सर्व प्रथम मानवता आनी चाहिए इसीलिए इस सग्रह के एक प्रवचन मे महाराज श्री ने मानवता पर ही विशेष बल दिया है।

भाषा परिमार्जित, भावगर्भित और ओजपूर्ण लालित्य की छटा लिये हुए है। शैली हृदयग्राहिणी है। पूर्ण विश्वास है कि इससे पाठक-गण अधिक से अधिक लाभ उठायेंगे और उन हृदयग्राही उपदेशों को जीवन मे उतार कर शाश्वत शान्ति प्राप्त करेंगे और सर्वत्र उच्च विचारों का प्रचार और प्रसार करेंगे।

स० २०१४ मे चातुर्मासार्थ देहली पधारने पर देहली के विख्यात उदारचेता श्री ला० इन्द्रसेन जी जैन (प्रोपराइटर कुमार ब्रदर्ज केमिस्ट व ड्रगडील कारपोरेशन मेन्यूफेक्चरिंग केमिस्ट) ने महाराज श्री से प्रेम सुधा के पंचम भाग व आपके अन्य समाजोपयोगी साहित्य के प्रकाशन की सेवा का सुअवसर स्वयं प्राप्त करने की विनती करते हुए निवेदन किया कि महाराज श्री, आप अपने बहुमूल्य समाज हितकारी प्रवचनों के संकलन 'प्रेम सुधा' पचम भाग के प्रकाशन का सौभाग्य

मुझे प्रदान करने की कृपा कीजिए। इसका सम्पादन श्री पं० शोभा चन्द्र जी भारिल्ल ने किया तथा मुद्रण के समय प्रूफ संशोधन व निरीक्षण आदि का सअवसर इस जन को प्राप्त हुआ।

श्री ला० इन्द्रसेन जी का विचार इस पुस्तक को सर्वथा निःशुल्क वितीर्ण करने का था, पर इस विचार से कि पुस्तक अनधिकारी व्यक्तियों के हाथों में न जाए इसका लागत से भी आधा मूल्य १।) रखा गया है। पुस्तक की बिक्री से जो कुछ प्राप्त होगा वह फिर साहित्य प्रकाशन में ही लग जायगा, जिससे साहित्य सेवा का यह प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहे।

प्रेमसुधा पंचम भाग के व्याख्यानों के सम्पादन-कार्य का व्यय ब्यावर निवासी श्री सेठ धूल चन्द जी मेहता जैन ने किया है।

पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि श्री ला० इन्द्रसेन जी जैन की ओर से पंजाब केसरी श्री श्री प्रेमचन्द्र जी महाराज का 'विहार व प्रचार' नामक एक दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ भी प्रकाशनार्थ प्रेस में दे दिया गया है।

इसमे पंजाब केशरी श्री प्रेमचन्द्र जी महाराज के द्वारा विगत २५ वर्षों मे सम्पन्न हुई समाज सम्बन्धी व आध्यात्मिक सेवाओं के दिग्दर्शन के साथ ही साथ श्री संघ की गतिविधियों का भी लेखा-जोखा अंकित किया गया है।

इस प्रकार श्री ला० इन्द्रसेन जी जैन के द्वारा प्रकाशित प्रेम सुधा का यह पंचम भाग भी आशा है कि पूर्व चार भागों के समान समाज के लिए आत्मोन्नति का प्रशस्त पथप्रदर्शक प्रमाणित होगा।

गुरु पूर्णिमा
सं० २०१४
चौक, दिल्ली।

—भवानी शंकर त्रिवेदी

विषय-सूची

१

उपदेशरुचि-सम्यक्त्व

उपस्थित महानुभावो !

सम्यक्त्व के विषय में व्याख्यान चालू है। यद्यपि सम्यग्दर्शन के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है, किन्तु यह विषय इतना विचारणीय और चर्चनीय है कि उसकी कहीं परिधि ही प्रतीत नहीं होती। परमागम का समस्त सार इस विषय में समाविष्ट हो जाता है। अतएव सम्यक्त्व को लेकर जितना भी कहा जाय और समझा जाय, वह सब थोड़ा ही समझिए। वस्तुत आध्यात्मिक जीवन का मूलाधार सम्यक्त्व है। साधुपन, श्रावकपन, देशविरति, सर्वविरति, मूल प्रत्याख्यान और उत्तर प्रत्याख्यान सभी कुछ सम्यक्त्व पर निर्भर है। सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही यह संभव हो सकते हैं, वह नहीं है तो इन सब का भी उदय नहीं हो सकता।

कौन नहीं जानता कि वृक्ष पर जब तक फूल नहीं आएंगे, तब तक फल भी नहीं आ सकते। पहले फूल आते हैं और फिर फूल ही फलों को उत्पन्न करते हैं। अत' एक माली, उद्यानपाल या बगीचे का रखवाला जो होता है, वह उन लताओं, पौधो या वृक्षों को बहुत सभाल कर रखता है। उनकी सुरक्षा का ध्यान रखता है कि कहीं सर्दी या धूप से उनको हानि न पहुँच जाय, वे कुम्हला न जाए। मनुष्य हो या पशु-पक्षी जो कोई भी उन्हें हानि

पहुंचाने वाला हो, उन सबसे उनकी रक्षा करता है। जब गर्मी अधिक होती है और मार्त्तण्ड की तीक्ष्ण मरीचिया दुस्सह प्रतीत होती हैं, तब माली पौधों आदि की जड़ों में जल का सिंचन करता है, जिससे उन्हें ठडक पहुंच जाती है।

जब सर्दी ज्यादा पड़ती है, तो कुशल माली पौधों और लताओं पर घास या टाट डाल देता है, ताकि उन पर पाला न पड़ जाय और फूल मृत न हो जाए। ऐसा करने पर ही फूल, फलों का रूप धारण करते हैं और अकाल विनाश से बचते हैं।

सज्जनो। इन फूलों के लिए एक ही तरफ से उपद्रव नहीं है। उन्हें सभी ओर से लुटेरे लूटने को तैयार हैं। सर्दी-गर्मी उन्हें जलाने को तैयार है, पशु-पक्षी खा जाने को तैयार हैं, बच्चे उन्हें तोड़ कर खेलने को तैयार हैं और कोई-कोई 'जेंटिलमेन' भी उनसे अपनी शोभा बढ़ाने को तैयार हैं। इसीलिए तो माली को विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। अगर माली को बगीचे से कुछ लेना है तो उसे डट कर काम करना होगा। कोई चू करे या चीं करे, किन्तु जिस ओर से भी बगीचे पर आक्रमण हो, सर्दी से, गर्मी, से, पशु से या मनुष्य से, किसी भी प्रकार का उपद्रव होता हो, माली का प्रधान और प्रथम कर्त्तव्य होता है कि वह उसका निवारण करे।

उद्यान का रक्षक माली अगर लम्बा पड़ा रहेगा, प्रमाद से ग्रस्त हो जाएगा तो समझ लीजिए कि उसे तप्पड़ झाड़ कर ही वापिस लौटना पड़ेगा और उसके हाथ में कुछ भी नहीं आने वाला है। अतएव जो कर्त्तव्य स्वेच्छा से अगीकार किया है, उसको शक्तिभर निभाना ही माली की प्रमाणिकता है।

भाइयो। इसी प्रकार भगवान् का यह धर्म रूपी बगीचा है। इसमें नाना प्रकार के फूल खिल रहे हैं। उन फूलों को तोड़ने, मरोड़ने और रौंदने वाले लुटेरे बहुत फिर रहे हैं। अतएव उनसे सावधान रहना होगा।

शास्त्रकारों ने 'वावरण दस्सरण वज्जरणा' का विधान किया है। जिन्होंने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया था, किन्तु मिथ्यादृष्टि के संसर्ग से या किसी भी अन्य निमित्त से वह सम्यक्त्व नष्ट हो गया; वह फिर मिथ्यात्व में रमण करने लगे और मिथ्यात्व के पुजारी बन गये, वह 'वावरण' या 'व्यापन्न' अर्थात् सम्यक्त्व को वमन कर देने वाले कहलाते हैं।

जैसे उल्टी हो जाती है तो खाया-पीया सब निकल जाता है, इसी प्रकार भद्र पुरुषो। सम्यक्त्व का भी कोई-कोई वमन कर देते हैं। शास्त्रकारों ने उनकी और जो पहले से ही मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी सगति वर्जनीय बतलाई है। ऐसे लोगों के साथ घनिष्ट परिचय बढाने से हानि होती है। अतएव सज्जनो। सम्यक्त्व सुन्दर फूल है और पूर्णरूपेण उसकी रक्षा करनी चाहिए। अगर यह फूल बना रहा तो ऐसे फल की उत्पत्ति होगी कि आप निहाल हो जाएगे। अगर उत्कृष्ट कोटि का क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय तो जीव उसी भव में मुक्ति पा लेता है। कदाचित् उस भव में रह जाय तो दूसरे अथवा तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करता। उसे सादि अनत सुख की प्राप्ति होती है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि सम्यक्त्व के बिना काम नहीं चल सकता। अगर आप मधुर फल खाना चाहते हैं और मधुर रस का आस्वादन करना चाहते हैं, तो आपको फूलों की रक्षा करनी ही होगी। अगर फूल नष्ट हो गये तो फिर फल मिलने वाला नहीं। साधुता, श्रावकता और मुक्ति ही समकित का फल है। समकित के अभाव में इन फलों की प्राप्ति होना असभव है।

आपको किसी के रौब में, दबाव में, लोभ में, या भय में नहीं आना चाहिए। नक्कारे की चोट के साथ अपने सिद्धान्तों को जनता के सामने रखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दुकान के आगे माल रखकर दिखाने का अधिकार है। सोने वाले, चादी वाले, पीतल वाले, गोटे वाले, कपडे वाले—

सभी तो दुकान खोल-खोल कर अपना माल दिखलाते हैं। कोई किसी को मना नहीं कर सकता। जो अधिकार एक दुकानदार को है, वही दूसरे को भी है। दुकानदार अपना माल खोल कर दिखलाता है और यदि ग्राहक को पसद आएगा तो वह ले लेगा। किसी को यह देखकर क्यों तकलीफ हो, क्यों किसी का पेट दुखे ? माल तो दिखलाया जायगा और फिर दिखलाया जायगा। किसी की धौंस नहीं जो किसी को बद कर सके। हा, ग्राहक की मर्जी है कि वह खरीदे या न खरीदे। जिसकी गाठ में दाम होंगे वह खरीदेगा। जिसके पास दाम नहीं वह क्या खरीदेगा ? इसी प्रकार भगवान् की दुकान का मैं मुनीम हू। मेरा कर्त्तव्य है कि भगवान् की दुकान का माल खोल-खोल कर मैं दिखलाऊ, अगर मै अपना यह कर्त्तव्य अदा नहीं करता तो मैं अपने स्वामी के प्रति कृतघ्न होता हूं। जो मुनीम अपने स्वामी की आज्ञा का पालन नहीं करता, वह स्वामी को धोखा देता है। जिसने जो उत्तरदायित्व अपने माथे लिया है, उसे ईमानदारी से निभाना चाहिए।

भगवान् का माल कोई चोरी का नहीं है कि उसे छिपा कर दिखाया जाय या बेचा जाय। जिसके पास चोरी का या चु गी चुकाये बिना का माल होगा, वही छिपा कर दिखलाएगा। किन्तु हमारी दुकान का माल धनी की कमाई का है। उस मालिक ने—धनी ने साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या करके और दुस्सह सकट सहकर माल इकट्ठा किया है। उसी को मुनीम की हैसियत से हम दिखा रहे हैं और वही माल हमारे काम आ रहा है।

तो इस चातुर्मास मे मुझे आपको और कुछ नहीं सिखाना है, केवल धर्मस्थान में उठने-बैठने आदि की सभ्यता एव समकित में दृढ रहना सिखलाना है। यही बात आपको दिखलाना चाहता हूँ।

हा, तो समकित के विषय में कह रहा था कि समकित एक अनमोल रत्न है। उसे लूटने वाले बहुत हैं। जब मक्की के खेत को भी लोग नहीं छोड़ते तो इस रत्न को कौन छोड़ना चाहेगा ? अतएव आपको सावधान रहना चाहिए।

मैने अभी कहा था कि फूल के विना फल नहीं लगते। अत फूल की रक्षा करना आवश्यक है। फूल की ठीक तरह रक्षा कर ली तो फिर फल खाने का आनन्द भी आ जायगा। एक वार भी अगर उत्कृष्ट रसायन का आस्वादन कर लिया तो फिर दूसरे फल की जरूरत नहीं रहेगी। निश्चय जानो कि समकित के विना कुछ भी वनने वाला नहीं। इसीलिए मैं वार-वार समकित के विषय में चेतावनी दे रहा हूं। जिसकी श्रद्धा स्थिर नहीं होगी, उसका जीवन ही डावा-डोल होगा। जो दीपक हवा से प्रेरित होता है, उसे बुझते देर नहीं लगती। इसी प्रकार जिसको समकित में मिथ्यात्व रूपी वायु के झौंके लग रहे हैं, उसको भी बुझते देर नहीं लगती। किन्तु ऐसा होता है कि जव दीपक हवा से बुझने की तैयारी मे होता है तो तुम उसे वड़ी सावधानी से, किसी कपडे की आड़ में, ऐसे स्थान पर ले जाते हो, जहा उसके बुझने का अदेशा न रहे। ठीक इसी तरह जिनकी संगति में बैठने-उठने से, जहाँ आने-जाने से आपका समकित रूपी दीपक डगमगाने लगे, आपको वहा से उसे हटा लेना चाहिए। ताकि मिथ्यात्व की वायु का झकोरा उसे बुझा न सके और आत्म-मंदिर को निरन्तर प्रकाशित करता रहे।

जिसके पास समकित नहीं, जिसे वीतराग के वचना पर शंका रहती है, समझ लो उसकी आत्मा प्रकाश से शून्य है। शास्त्र मे साधु के लिये बाईस परीषह वताए हैं, उनमे से भगवान् के वचनों पर शका होना भी एक परीषह है। इसका नाम दर्शन-परीषह है। दर्शन सम्यक्त्व को कहते हैं। शास्त्र मे भगवान् ने अनेक ऐसी गूढ़ वातें वतलाई हैं, जिन्हें अल्पज्ञ जीव भलीभाति नही समझ सकते। उन्हें आज्ञासिद्ध कह कर ही समाधान करना पड़ता है। वे तत्त्व इतने गूढ़ हैं कि सिर्फ केवलज्ञान और केवल दर्शन मे ही प्रतिभा-सित हो सकते हैं। किन्तु दर्शनपरीषह वाली आत्मा भगवान् के उन वचनो के गूढ तत्त्वा में शका करती है आर सोचती है कि भला यह वात कैसे हो सकती है? ऐसे संकल्प-विकल्पों मे ही वह जीव कुढता रहता है। तो शास्त्रकारा ने इस प्रकार की शका होना दु ख माना है और इसीलिए उसे परीषह कहा है।

मनुष्य पर कोई आपत्ति आती है, तो वह विचलित हो जाता है और भान खो बैठता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व आता है तो दर्शन में गड़बड़ हो जाती है। जैसे ज्वर आने पर सारे शरीर में गड़बड़ी हो जाती है और सब इद्रियों में एक प्रकार की हलचल सी मच जाती है, इसी प्रकार जब मिथ्यात्व आत्मा में प्रवेश करता है तो समकित में बड़ी भारी गड़बड़ और हलचल मच जाती है। जब बुखार आता है तो आपको डाक्टर के पास जाना पड़ता है। परन्तु डाक्टर कैसा चाहिए? जिसे पहले ही १०५ डिग्री बुखार चढ़ा हो, वह आपका क्या इलाज कर सकता है? तो डाक्टर ऐसा हो जो स्वय बीमार न हो, जिसकी सब इद्रिया पूर्णरूपेण काम करती हों। तभी वह सफल डाक्टर होता है और रोगी के रोग को पहचान कर उसे नीरोग कर सकता है।

जब मिथ्यात्व का बुखार चढ़ता है, यानी जब दर्शन में शंका होती है, जिन-वचनों में शंकाशीलता रहती है और अखण्ड विश्वास नहीं होता, तो वह बुखार आत्मा को पीड़ित करता है। उसकी धारणा क्या हो जाती है? शास्त्र में उल्लेख हैकि जिसे दर्शन में विश्वास नहीं होता, जो वीतराग की वाणी में शका करता है, उसकी धारणा ऐसी हो जाती है कि —

नत्थि नूण परे लोए, इड्ढिवावि तवस्सिो।
अदुवा वंचियों मित्ति, इइ भिक्खू न चितए॥

वह साधु कहने लगता है कि परलोक नहीं है। करनी करने से मोक्ष मिलता है तो वह परलोक ही नहीं मानता। फिर कहता है—तपस्या करने से तपस्वी को लब्धि-सिद्धि प्राप्त हो जाती है, यह भी झूठ है। वह इहलोक, परलोक, जीव, अजीव तपस्या वगैरह कुछ नहीं मानता और सोचता है—अरे, मैं तो व्यर्थ ही ससार के सुखों से वचित हो गया। जो आनन्द प्राप्त हुआ था, उसे मैंने परलोक के भरोसे छोड़ दिया। मगर कौन जाने, परलोक है भी या नहीं? कौन वहा से पत्र लेकर आया है कि परलोक पर विश्वास किया जाय? इस

विश्वास नहीं होता। वह सोचता है—आत्मा कोई स्वतन्त्र तत्त्व है या नहीं? किन्तु आत्मा के विषय में शंका करना वृथा है। आत्मा तो प्रत्यक्ष भासता है। कोई कहता है—मेरा सिर दुखता है, मेरा पेट दुखता है। यह कहने से ही प्रतीत होता है कि दो चीजें भिन्न-भिन्न हैं—एक सिर और दूसरी को 'मेरा' कहने वाला—आत्मा। आत्मा पृथक् पदार्थ न हो तो सिर और पेट को अपना कहने वाला कौन है? मुर्दा शरीर में सिर और पेट तो कायम रहते हैं। परन्तु उसमें दर्द की अनुभूति नहीं और न कोई उसे अपना कहता है। उस शरीर को चिता पर रख कर जला दिया जाता है, पर वेदना का अनुभव किसी को नहीं होता। इससे स्पष्ट विदित होता है कि दर्द का अनुभव करने वाला और शरीर में विकास करने वाला कोई और ही है, जो पहले था और अब नहीं है। इसी प्रकार कोई कहता है—'मैं यों हूँ' तो इस वाक्य में 'मैं' यह आत्मा का बोधक है। 'मैं' आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करता है।

कछ लोग कहते हैं कि इंद्रिय और शरीर का काम ही 'मैं' है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है। मगर उनका कहना भी यथार्थ नही है। इंद्रिय एवं शरीर कुछ और है तथा आत्मा कुछ और है। डिबिया में चमकने वाली मणि अलग है, डिबिया अलग है। छाछ और है, मक्खन और है। तलवार और म्यान एक ही पदार्थ नहीं हो सकते। इसी प्रकार जड़ शरीर एव इद्रिया पृथक् हैं, आत्मा पृथक् है। अतएव मानना होगा कि 'मेरा हाथ, मेरा पैर' कहने में हाथ-पैर और हैं, और उन्हें मेरा कहने वाला कोई और है। हाथ, पैर को ही आत्मा मान लें तो सुख-दु ख का अनुभव भी आत्मा को ही होगा। किन्तु ऐसा होता नही, क्यो कि मुर्दा सुख-दुख का अनुभव नहीं करता। तो फिर जिसे सुख-दुख का अनुभव होता है, वही आत्मा है।

तो मैं कह रहा था कि जिसका दर्शन शुद्ध नहीं होता वह साधु कहता है कि परलोक, लब्धि, सिद्धि वगैरह कुछ नहीं हैं। यह सब तो धोखा देने वाली बातें हैं। मैं नाहक ही ससार के मजामौज से वंचित हो गया। मैं ठगा गया

और दुःख में पड़ गया। मैंने मूर्खतावश मिले-मिलाए सुखसाधनों का परित्याग कर दिया। इस प्रकार वह दर्शन परीषह में जलता रहता है।

भगवान् फरमाते हैं—ऐ भिक्षु! हे साधु! इस प्रकार शकाशील होकर दूषित चिन्तन मत कर। आत्मा भी है, महात्मा भी है और परमात्मा भी है। स्वर्ग भी है, नरक भी है और परलोक भी है। क्षण भर के लिये भी मन में मत ला कि इनका अस्तित्व नहीं है।

अगर इस लोक का अस्तित्व माना जाता है तो परलोक का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा, क्योंकि ऐसी कोई नदी नहीं, तालाव और समुद्र नहीं, जिसका एक किनारा हो और दूसरा न हो। जब एक किनारा मान लिया तो दूसरा भी मानना ही होगा। हो सकता है कि दूसरा किनारा तुम्हारी नजर में न आवे और समुद्र के विषय में तो यह होता ही है, क्योंकि वह दूर है, किन्तु यह तो दृष्टि का दोष है। दूसरा किनारा होता अवश्य है। पहला किनारा दूसरे किनारे को सिद्ध करता है।

तो भद्र पुरुषो! कदापि शंका नहीं करनी चाहिए कि परलोक है या नहीं? तपस्वियों को तपस्या का फल मिलता है या नहीं? हां, जो तपस्या की जाय वह लब्धि के लिये न की जाय, किन्तु कर्म तोड़ने के लिए की जाय। जो कर्म अनादि काल से आत्मा को पीड़ित कर रहे हैं, उनको क्षय करने के लिए की जानी चाहिए। इस महान् उद्देश्य के साथ दूसरे आनुषंगिक फल तो प्राप्त होते ही रहते हैं।

श्रीमद् उत्तराध्ययनसूत्र के द्वितीय अध्ययन में भगवान् ने फर्माया है कि जिसका दर्शन अशुद्ध होता है, उसके दिल में एक प्रकार की नहीं, अनेक प्रकार की शंकाएं उत्पन्न होती रहती हैं। जब आत्मा का पतन होने वाला होता है तो चारों ओर से मिथ्यात्व अपना कब्जा जमाने की कोशिश करता है। जैसे किसी का दिवाला निकलने वाला होता है तो चारों तरफ दिसावरों से टोटे ही टोटे के समाचार आने लगते हैं, और जब पुण्य का उदय होता है तो नफे ही

नफे के तार और पत्र आते हैं। जब आत्मा में सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है तो उसकी चमक से आत्मा निखरने लगती है, और वस्तु का यथावत् निर्णय होता जाता है, और जब मिथ्यात्व का उदय होता है तो उसकी श्रद्धा हटती जाती है। जैसे यह अटल सत्य है कि भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर हो चुके है,वर्त्तमान में विदेह क्षेत्र में बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं। वहा तीर्थंकर और सामान्य केवली–दोनों प्रकार के जिन होते हैं। वे कम से कम दो करोड़ तो होते ही हैं। भविष्य में भी अनन्त होंगे। परन्तु जिसके दर्शन की स्थिति डावाडोल होती है,वह ऐसी बातो पर विश्वास नहीं करता। समझता है कि यह सब मिथ्या है। वह किसी सिद्धात का निर्णय नहीं कर पाता। अतएव ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि सम्यक्त्व के विषय मे जागरूक रहना चाहिए। इसे खूब संभाल कर रखना चाहिए, जिससे चरित्र रूप फल की प्राप्ति हो सके।

मैने बतलाया है कि फूल के बिना फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। समकित सुन्दर फूल है तो चरित्र और तज्जन्य मोक्ष उस का फल है।

दूसरे नम्बर पर उपदेशरुचि सम्यक्त्व है, जिस की प्राप्ति उपदेश सुनने से होती है। जैसे भूख लगने से, भोजन को देखने से, पेट खाली होने से और भोजन की बाते सुनने से भोजन की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी तरह अगर आप भगवान् की वाणी और समकित की बातें सुनेंगे तो आप को उसे प्राप्त करने की इच्छा होगी। वह इच्छा उपदेश सुनने से होती है। एक नहीं, अनेक आत्माए उपदेश सुन-सुन कर मोक्ष पा चुकीं। आज भी जीवों को जो सम्यक्त्व मिला है, उसे वे सभी पहले से ही लेकर नहीं आए थे। प्राय उपदेश से ही समकित की प्राप्ति होती है।

जो भगवान् के वचनों मे विश्वास करने वाले हैं, वे ही यदि उलटी कथा करे तो इससे लोगों का सम्यक्त्व दूषित हो जाता है। देखिए न, आजकल बहिनें सामयिक मे भी कहती हैं—"बाई जी, आज कॉई बणायो ?" 'खाटो बणायो !'-आदि-आदि निरर्थक भक्त कथा करती हैं। परन्तु अरी भोली

भगिनियों। यहा तो आत्मा की बातें होनी चाहिए। सामायिक में राज कथा, देश कथा, स्त्री कथा और भात कथा, यह चार विकथाए नहीं करनी चाहिए। इससे समकित मलीन होता है। क्योंकि जैसी चीज हमारे जीवन में सामने आएगी, वैसी ही भावना उत्पन्न होगी। समकित की बातें सुनोगे तो समकित पैदा होगी। बड़े-बड़े खूनी, अपराधी, अधर्मी, महापापी और डाकू भी उपदेश सुन कर समकिती बन गये। किसी-किसी की वाणी में वह शक्ति होती है कि श्रोता के हृदय पर जादू-सा असर करती है।

हमारे स्व० श्रीमयाराम जी म० तीन भाई थे और तीनों ने दीक्षा अगीकार की थी। मायाराम जी म० सब से बड़े थे। आप गाव के मुखिया-पटेल थे, किन्तु वैराग्य उत्पन्न हो गया और सब कुछ छोड़ कर दीक्षित हो गए। एक बार उन्होंने ने उदयपुर में चातुर्मास किया। रात्रि में रामायण का व्याख्यान चालू किया। वहा के पचायती नोहरे के प्रागण में दस-बीस हजार की सख्या में जनता बैठ सकती थी। इतना विशाल वह नोहरा था। उन्होंने रात्रि में मौखिक रूप से रामायण प्रारम्भ की। आप जानते हैं कि रात्रि में साधु के स्थान पर महिलाए नहीं आ सकती, क्योंकि ऐसा नियम है कि रात्रि के समय साधु के स्थान पर स्त्रिया और साध्वियों के स्थान पर पुरुष न जावें। दिन में भी बिना कारण बहिनों को साधुओं के स्थान पर नहीं आना चाहिए। हा, किसी को शंका-समाधान करना हो, प्रश्नोत्तर करना हो तो आ सकती हैं। परन्तु मर्यादा को लाघ कर कोई काम नही करना चाहिए। मगर कहीं-कहीं ऐसा ही होता है। बहिनें खा-पी कर और घर के धन्धों से फारिग होकर स्थानक में महाराज की सेवा करने चली आतीं हैं। किन्तु इस प्रकार की प्रवृत्तियों का परिणाम कभी-कभी अत्यन्त अवाछनीय होता है।

प्रसंग आ गया है तो यह भी कह देना चाहता हूँ कि कई भाइयों की साध्वियो के प्रति बड़ी उपेक्षा रहती है।

वे साधु के दर्शन करने तो चले जाते हैं, किन्तु साध्वियों के पास मागलिक [illegible] भी नहीं जाते। किन्तु साधुओं और साध्वियों की एक ही श्रेणी

है—बराबर का पद है। दोनों ही पच महाव्रत धारी हैं। भगवान् ने किसी को नीचा दर्जा नहीं दिया है। जब आप 'णमो लोए सव्वसाहूण' बोलते हैं तो साधु शब्द में साध्वियों का भी समावेश हो जाता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि ठीक समय पर मर्यादापूर्वक आप लोग साध्वियों के दर्शन कर सकते हैं और आपको ऐसा करना ही चाहिए। उनके प्रति उपेक्षा भाव रखना उचित नहीं है। सज्जनों! जितना मान साधु को दिया गया है, उतना ही साध्वी को भी दिया गया है। मगर कई भाइयों की तो इतनी उपेक्षा है कि शायद उन्हें पता ही न हो कि कौन सती कहा ठहरी है? कौन बीमार है? किसे किस वस्तु की आवश्यकता है? अरे श्रावको! अगर तुम उनके दुःख-दर्द म भी काम न आये तो किस मर्ज़ की दवा हो? अगर उनके दर्शन करने जाओगे तो कुछ पूछोगे भी और कुछ नियम-धर्म की भी प्राप्ति कर सकोगे।

सज्जनों! चार कारणों से धर्म की प्राप्ति होती है। शास्त्र में उल्लेख है कि धर्म यों ही नहीं मिल जाता। कारण के बिना कार्य कदापि नहीं होता। साधु-साध्वी जी, महाराज आकर उद्यान में या उपाश्रय में ठहरें और उनके पास वन्दना करने को जाने से और उनकी वाणी सुनने से धर्म की प्राप्ति होती है। साधु जी कहीं जा रहे हों तो उन्हें देख कर, खड़े, होकर वन्दना करने से भी धर्म की प्राप्ति होती है। आप वन्दना करेंगे तो वे धर्म की कोई बात कहेंगे और उससे आपको धर्म की प्राप्ति हो सकेगी। इसके अतिरिक्त साधु जी गोचरी के लिए आपके घर पर आयें तो चार पैर आगे जाकर उनका सम्मान, सत्कार और अभिवादन करने से भी धर्म की प्राप्ति होती है। मगर कई मा के पूत तो ऐसे होते हैं कि महाराज ने घर में पैर रक्खा तो वे अन्दर के कोठे मे चले जाते हैं। क्यों ऐसा करते हैं? आने वाले मुनि यही तो कहेंगे कि भाई, धर्मध्यान किया करो। इसके सिवाय वे और क्या कहेंगे? फिर इतनी झिझक क्यों?

इसी प्रकार धर्म की प्राप्ति न होने के भी भगवान् ने चार कारण बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं —

(१) साधु उद्यान में ठहरें हों तो वहा वन्दन करने और वाणी सुनने न जाना।

(२) उपाश्रय में ठहरे हुए मुनि के पास भी वन्दन करने न जाना और उनकी वाणी न सुनना।

(३) मार्ग में मिल जाएं तो भी वन्दन न करना।

(४) घर पर आ जाए तो भी मत्था न नमाना।

ऐसा करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। साधु की सगति करने से बड़े-बडे फायदे हैं। घोर नास्तिक, अधर्मी और हत्यारे लोगों का भी सत्संगति से बेडा पार हो गया।

हा, तो मैं कह रहा था कि श्री मायाराम जी महाराज ने रामायण आरम्भ की। दस-दस हजार श्रोता एकत्र होने लगे और उनकी रसभरी कथा सुन कर आनन्द लाभ करने-लगे। उनका कंठ बड़ा ही मधुर और सुरीला था। वे पजाब की कोयल के नाम से प्रसिद्ध थे। प्राय पंचम स्वर में गीतों या गाथाओं का उच्चारण करते थे। उनमें रामायण सुनाने की और विवेचना करने की ऐसी प्रतिभा थी कि कइयो को वैराग्य भावना जागृत हुई, धर्म भावना उदित हुई, कइयों ने ब्रह्मचर्य धारण किया, ज्यादा क्या कहूं, सबके दिलों पर जादू का असर हो गया। रात्रि में पचायती-नोहरे से बाहर बैठ कर जो बाइया व्याख्यान सुनती थीं, उनमे कुछ वेश्याए भी थीं। वे भी बहिनों के साथ बैठ जाती थीं। इस प्रकार सुनते-सुनते कई दिन बीत गये। वे सच्ची बात कहने मे सकोच करने वाले नहीं थे, बेधड़क फकीर थे। वे मानते थे कि सत्य, पथ्य और तथ्य कहने पर भी कोई नाराज़ हो जाय तो यह उसी की भूल है। साधु तो हित वाणी कहेगा।

हा, तो श्री मायाराम जी महाराज के व्याख्यानों से बहुत-से नौजवानों के जीवन[illegible] न्होंने दुर्व्यसनों का त्याग किया, और अपने आपको नियंत्रित

सयत किया। उपदेश में वह शक्ति है कि पत्थर जैसे दिल को भी वह पिघला देता है।

हा, तो रामायण की कथा चल रही थी। एक अत्यन्त करुणाजनक प्रसग आ गया। सीता जी को कलंक लगाया गया। उसे दूर करने के लिए सीता ने अग्नि के धधकते कुड में प्रवेश किया। सीता जी का उस कुड में कूदना था कि कुड सरोवर वन गया और उसमें कमल के फूल खिल गये। जब श्रीमयाराम जी महाराज ने यह वर्णन सुनाया, इस घटना का शब्दचित्र उपस्थित किया और अपने अमृतस्रावी स्वर में शील की महिमा सुनाई तो, सज्जनो। उन वेश्याओं ने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया। दुनिया में कहावत है कि वेश्या सती नहीं होती है, परन्तु उपदेश के प्रभाव से वेश्याए भी सती वन गईं। मैंने वहा के बुजुर्ग लोगों से सुना है कि भरी सभा में खड़ी हो कर उन्होंने ब्रह्मचर्य अंगीकार किया। मैंने सुना है कि वे वेश्याए वृद्ध होकर मरी, मगर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा भग नहीं की। वेश्याओ का जीवन भ्रष्ट होता है, गदा होता है, मगर उपदेश के कारण उनका भी कल्याण हो गया।

राजा प्रदेशी की कथा आपने सुनी होगी। उसके हाथ खून से भरे रहते थे, किन्तु उसके भी जीवन का परिवर्त्तन हो गया एक महामुनि के उपदेश से। कितना परिवर्त्तन हुआ उसके जीवन में। जहा उसे नरक में जाना था वहा वह पहले देवलोक में सूर्याभ नामक देव हुआ। स्वर्ग से च्यवकर वह कुछ भव करके मोक्ष प्राप्त करेगा। यह सब किसका प्रभाव है? केवल धर्मोपदेश का।

मैंने स्व० पूज्य अमोलक ऋषि जी म० के जीवन के विषय मे पढा। एक जगह देखा—'एक आदमी ने लड़की को वेचकर वहुत सा धन लिया। धन को काम में लाते लाते कितना ही अर्सा गुजर गया। एक दिन पूज्य श्री ने कन्या विक्रय के विषय मे उपदेश किया। कहा—ऐसा धन घोर पाप रूप है।

कसाई तो मृतकमास ही वेचता है, पर कन्याविक्रय करने वाला जीवित मनुष्य का मास वेचता है। यह उपदेश सुनकर सभा में एक आदमी खड़ा हुआ। वह आँसुओं से अपना मुँह धो रहा था और रो रहा था। उसने गद्‌गद स्वर में कहा—'यह महापाप करने वाला पापी मैं हूँ।' वह फूट-फूट कर रोने लगा और अपने पापों की आलोचना करने लगा।

कहिए, हृदय में परिवर्तन कर देने की यह शक्ति किस की है? वह व्यक्ति रो कर ही नहीं रह गया, उसने पुत्री के वदले लिया हुआ धन व्याज समेत वापिस कर देने की घोषणा की और वैसा ही किया भी। जीवन में इतना वड़ा जो परिवर्तन आया सो उपदेश के ही प्रभाव से। उपदेश सुन कर वड़े-वडे पापियों का उद्‌धार हो गया है। मगर यह भी देखा जाता है कि गुरु महाराज उपदेश सुनाते हैं और कई जवानी के मद में मस्त लोग परवाह ही नहीं करते। किन्तु ज्ञानी कहते हैं—

काई फिरतो रे जोर जवानी में।
हितकर ज्ञान सुनावत ज्ञानी,
समझ-समझ इनसानी में,
नर-भवरतन चिंतामणी सरिखो,
काई हारे तू एक आनी में,

किन्तु मनुष्य जवानी के नशे में फूला नहीं समाता। सिर पर कलगी वाँधता है, साफा वाँधता है तो दो पल्लू छोड़ता है, जैसे हवाई जहाज के पखें हों और चर्र-मर्र करने वाले जूते पहन कर गली में से अकड़ कर निकलता है, इस प्रकार कि दूर से देखने वाला यही सोचता है कि कहीं मुल्यनमल जी गली में फस न जाए।

तो आज अकड़ने वाले और वातें वनाने वाले वहुत हैं, किन्तु काम करने वाले थोड़े हैं। सज्जनो! उपदेश ही ऐसे लोगों को सही राह पर लाता है।

जालधर में एक क्षत्रिय का लड़का रहता था। वह मासाहारी था। उस लड़के को मित्रों ने बहुत समझाया, मगर वह किसी की न माना। तब उसके मित्र एक दिन उसे कसाईखाने में ले गये, इस उद्देश्य से कि वहा के दर्दनाक दृश्य देखकर शायद यह मास खाना छोड़ दे। मगर वह वहा के क्रूर दृश्य देखकर भी नही पसीजा। उसने मास खाना जारी रक्खा उस पर किसी का असर न हुआ। एक बार वहा मेरा चातुर्मास हुआ। वहा सार्वजनिक व्याख्यान होते थे, उस जगह जहा से छह राजमार्ग गुजरते थे। वहाँ बहुत बड़ी सख्या में श्रोता आते थे, पर कोलाहल बिल्कुल नहीं होता था। आम रास्ता और खुला पडाल देखकर कोई भी सुनने आ जाता था।

वह मासाहारी लड़का भी उधर से निकला और व्याख्यान सुनने लगा मुझे पता नहीं था कि कौन आ रहा है और कौन जा रहा है? मैंने पंजाब में वेजीटेरियन सोसाइटी कायम की थी, जो अब भी चल रही है। उसके हजारों सदस्य बने और ऐसे लोग भी बने जो सिक्ख और मुसलमान थे और जो मुर्गा-मुर्गी पालते थे, अडे खाते थे, मास-मछली खाते थे। सोसाइटी का सदस्य बन कर उन्होंने यह सब खाना छोड़ दिया। तो मेरा उपदेश सुनकर उस लड़के की आत्मा बोल उठी, पुकार उठी और उसने मेरे सामने अपने पापों की आलोचना की। उसने कहा—'मैं मास खाता हूँ। बड़ा पापी हूँ। मुझे मेरे मित्रों ने बहुत समझाया, पर मैं न माना। आज आप का उपदेश सुन कर मेरा दिल पिघल गया है। अब मैं कदापि मास का सेवन नहीं करूँगा।'

ऐसे-ऐसे लोग थे कि मनुष्य का कत्ल करने में भी परहेज नहीं करते थे, किन्तु उपदेश के द्वारा वे भी जिनवाणी के रसिया बन गये। सज्जनो, हथियार तो बहुत हैं, परन्तु सँभालने वाला भी कोई हो। भगवान् की वाणी सब का कल्याण करने वाली है। उपदेश में बड़ी ताकत है। कहा है—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावग।
उभय पि जाणई सोच्चा, ज सेयं त समायरे।।

यदि किसी ने किसी तत्व को जाना और पहचाना है तो पहले सुना है और बाद में पहचाना है। कहते हैं—अंधे भी सुन-सुन कर कहीं भी पहुँच जाते हैं। यह श्रुतज्ञान है और पाँच ज्ञानों में महान् है। यहीं से हमारे विकास का बीजारोपण होता है। समकित किसी पेड़ में नहीं लगती, वह कोई पोटली नहीं है कि आकाश से आ जाय। वह उपदेश के द्वारा उद्भूत होती है। वह सुनने-सुनाने से ही आती है। किन्तु उपदेश का असर भी क्षयोपशम के अनुसार कम या अधिक होता है।

भद्र पुरुषों मैं यहां केवल कपडे फाड़ने और उदर का निर्वाह करने के लिए नहीं आया हूँ। मैं आप का समीचीन पथप्रदर्शन करने आया हूँ। अतएव मुझे ईमानदारी के साथ माल दिखलाना होगा। फिर लेने वाले की इच्छा है कि वह ले या न ले। मुझे दूसरे का माल खराब कहने की जरूरत नहीं, किन्तु अपना माल तो दिखलाऊगा ही ऐसा करने पर यदि कोई गडबड करता है या शरारत करता है तो उसी की भूल है। वह प्रेम-सूत्र को तोड़ना चाहता है। मेरी कभी ऐसी भावना नहीं हुई कि प्रेमसूत्र टूट जाय। कोई दिगम्बर हो, तेरा पथी हो, मूर्तिपूजक हो या सनातनी हो, सब को अपनी-अपनी धारणा के अनुसार धर्माचरण करने की स्वतन्त्रता है। तुम अपना माल बेच रहे हो और दूसरा अपना माल बेच रहा है, किन्तु ऐसा कोई काम मत करो, जिससे दूसरे की बुराई हो मैं सब का सगठन चाहता हूँ। मन्दिरमार्गी दया-दान का उपदेश करें तो मुझे खुशी होगी, तेरहपथी करें तब भी खुशी होगी, और मैं करू तो भी खुशी होगी। मेरा कहना तो यह है कि भगवान् महावीर की दुकान मे, उनके सब बेटे कमाई करें। कोई भी बेटा दिवाला निकालने का काम न करे। -

सज्जनो। शिक्षा देना मेरा काम है। मानना या न मानना अपने-अपने विचार और भाग्य की बात है। मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि आडम्बर को घटाएं और वास्तविक सिद्धान्त पर आए। इसी से धर्म की उन्नति होगी। मेरा किसी से विरोध नहीं, किसी के प्रति घृणाभाव नहीं, क्योंकि घृणा पाप से

होती है, पापी से नहीं। तो सब से अच्छी बातें ग्रहण कर सकते हो। उपदेश जहा से भी मिले, ग्रहण करना चाहिए। जो प्राणी वीतराग भगवान् का उपदेश सुनेंगे और अपने जीवन में उतारेंगे, वे संसार-समुद्र से पार होंगे।

तथास्तु।

ब्यावर
९-८-५६

२

उपदेशरुचि-सम्यक्त्व

— ० —

सभ्य आत्माओ !

सर्वोपरि आत्मिक उत्क्रान्ति का साधन सम्यक्त्व है। बीज ही कंद, मूल, स्कंद, आदि दस प्रकार की वृक्ष-संवृद्धि का कारण है। अर्थात् कन्द, मूल, स्कन्द, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प और फल आदि का मूल कारण बीज ही है। बीज के अभाव में इनमें से किसी का उद्भव संभव नहीं है। इसी प्रकार तप, जप, संयम, नियम, सर्वविरति, देशविरति और मोक्ष रूप फल का जन्मदाता सम्यक्त्व ही है।

सम्यग्दृष्टि जीव प्रत्येक क्रिया में धर्मोपार्जन कर सकता है क्योंकि उसमें विवेक का प्रादुर्भाव हो जाता है। विवेकशील मनुष्य साधारण व्यापार में भी अधिक लाभ कमा लेता है। ऐसा नहीं है कि जवाहरात के व्यापार में ही लाभ हो सकता है। पुण्य साथ हो तो कबाड़ी की दुकान से भी बड़ा लाभ हो सकता है।

सुना है, अमेरिका में एक व्यक्ति कबाडी की दुकान करता था। उसने एक करोड़ रुपया तो अपनी कन्या को दान में दिया। इससे आप ख्याल कर सकते हैं कि उसके पास कितनी धनराशि होगी। उसके घर में कई करोड़ों की

सम्पत्ति होनी चाहिये। दरअसल बात यह है कि जिसने लाभान्तराय कर्म तोड़ा है, उसे प्रत्येक व्यापार में लाभ ही होता चला जाता है।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति को समकित की प्राप्ति हो गई है, वह साधारण या विशेष क्रियानुष्ठान में महान् आत्म-कल्याण रूप लाभ उपार्जन कर लेता है।

इसके विपरीत, यदि पाप का उदय है तो जवाहरात का व्यापारी जौहरी-बच्चा भी नुकसान ही उठाता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य के मिथ्यात्व का उदय है, वह तपस्या आदि कठोर साधना करने पर भी आत्मोत्थान नहीं कर पाता। वह अपना ससार-परिभ्रमण ही बढ़ाता है।

बात उपदेशरुचि सम्यक्त्व की चल रही है। उपदेश के द्वारा भी सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उपदेश किसे देना चाहिए, इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—'उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा' अर्थात् जो उपदेश सुनने को उठे हैं, सावधान हुए हैं, जिनके अन्त करण में सुनने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है, उन्हें भी सुनाओ और जो सुनने को कटिबद्ध नहीं हुए है, जिनके मन में सदुपदेश सुनने की स्फूर्त्ति अथवा जागृति उत्पन्न नहीं हुई है, उन्हें भी सुनाओ। हो सकता है कि उपदेश सुनाने से उनमें भी जागृति आ जाय, उनकी शुश्रूषा भी विकसित हो उठे। वैद्य का कर्त्तव्य है कि जो रोगी स्वयं दवा लेने को तैयार है उसे भी दवा दे और जो अज्ञान के कारण दवा लेने को तैयार नहीं, उसे भी दवा के लाभ बतला कर दवा दे।

उपदेशदाता के लिए शास्त्र में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात और भी कही गई है। वह यह है कि जिस उदारता और प्रेम के साथ एक समृद्ध चक्रवर्त्ती राजा को उपदेश दिया जाय, उसी उदारता और प्रेम से एक दरिद्र लकड़हारे अथवा घसियारे को भी उपदेश देना चाहिए कहा है—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।

श्रीमदाचाराग सूत्र

अभिप्राय यह है कि समस्त श्रोताओं पर, चाहे वह सम्पन्न हों या विपन्न, राजा हो या रक, कुलीन हो या अकुलीन, किसी भी जाति का, किसी भी वर्ण का या वर्ग का हो, पूर्ण समभाव रखकर धर्म का उपदेश करना चाहिए। उपदेशक के मन में किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिये।

उपदेश देना ही उपदेशक का कर्त्तव्य है। फिर श्रोता का जैसा क्षयोपशम होगा, तदनुसार ही उसका परिणमन होगा। किसान खेत में वीज डालता है, इसी आशा से कि अधिक से अधिक धान्य की प्राप्ति हो। मगर उगना अथवा न उगना जमीन पर निर्भर है। इसी पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले वहुत से वृक्ष पृथ्वी का रस लेकर अमृत-फल देते हैं और इसी पृथ्वी का रस लेकर कितने ही वृक्ष कटु फल देते हैं। यह इनके स्वभाव की विलक्षणता है। आखिर तो जैसा उपादान होगा, वैसा ही कार्य होगा। सव आत्माओं के अलग-अलग कर्म हैं और उनके फल भी अलग-अलग ही होते हैं।

एक सेठ के यहा चार वालक थे। उनके नाम कुछ भी समझ लीजिए—लाला, बाला, काला और धन्ना। जव प्रथम पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई तो व्यापार में नुकसान लग गया। दूसरे साहव जन्मे तो हालत और गई-वीती हो गई। तीसरे महाशय का पदार्पण हुआ तो मागने वाले अपनी-अपनी रकमें मागने लगे और देनदार देने से इन्कार करने लगे। इसके वाद जव चौथे की उम्मीदवारी होती है तो सेठ सोचने लगा—इसके जन्म लेने पर शायद देश त्याग कर भागना पडे या झौंपड़ी छोड़नी पडे। आखिर दूध का जला छाछ को भी फूक-फूक कर पीता है। इसीलिए सेठ के मन में अशुभ आशंकाए उत्पन्न होने लगीं।

मगर किसी का समय सदा सरीखा नहीं रहता। 'चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।' दुःख और सुख गाड़ी के चक्र की तरह फिरते रहते हैं। खान में से पत्थर निकलते हैं तो कभी हीरा भी निकल सकता है।

जब धन्ना जी के जन्म का समय निकट आया तो सेठ जी दाई को बुलाने गये। दाई नखरे करने लगी। बोली—सेठ जी, पहले कह दिया होता तो आ जाती, किन्तु मुझे दूसरी जगह जाना है। वास्तविक बात यह थी कि उसे मालूम था कि इनके यहा जाकर मैं पाऊंगी क्या? इनके घर में तो चूहे डड पेल रहे हैं। अन्त में उसने बहाना बनाकर टालमटोल कर दी।

सज्जनो! चलती का नाम गाड़ी है। वह खड़ी हो तो भी उसे गाड़ी कहते हैं। पुण्य का उदय हो तो प्रतिकूल भी अनुकूल बन जाता है और पाप का उदय होने पर सीधा पासा भी उल्टा पड़ता है। कृषक खेत में बीज डालता है। वह मिट्टी में भले उल्टा पड़ा हो तो भी सीधा होकर ही अंकुर के रूप में निकलता है। पुण्य की यही विशेषता है कि उसके प्रभाव से उलटे काम भी सीधा फल देने लगते हैं। पुण्यवान् गाली देता है तो वह भी फूल की वर्षा-सी मालूम होती है।

सज्जनो! मनुष्य नौ प्रकार से पुण्य बाधता है और ४२ प्रकार से भोगता है। जिसके आदेय पुण्य प्रकृति का उदय है, वह कोई ऐसी बात कह दे कि आम तौर पर जिससे नाराजगी पैदा होती है तो भी इन पुण्य प्रकृतियों के प्रभाव से सुनने वाला कहता—बात बड़ी मीठी कही है! कोई आदमी सच्ची और मीठी बात ही क्यों न कहे, किन्तु सुनने वाले को ऐसा लगता है जैसे मान-हानि हो गई है। यह अनादेय वचन नामक पाप प्रकृति का परिणाम है। ऐसे ही सुस्वर प्रकृति वाला कैसी भी वाणी क्यों न बोले, वह प्रिय ही लगती है। एक व्यक्ति गाना गाता है तो लोग कहते हैं—'भाईसाहब, तकलीफ़ मत कीजिये।' और दूसरे का गाना सबको प्रिय लगता है। पुन पुन॰ उसे सुनने की इच्छा होती है। इसलिए कवि ने कहा है—

दुनिया में सबसे मुहब्बत करो, हलीमी मतानत से सब काम लो।
तू बोले तो सब कान धर के सुने, तू चुप हो तो सुनने की की ख्वाहिश करें।

सबसे नम्रतापूर्वक बोलो, प्रेम से बोलो, विवेक से बोलो। ऐसा बोलो कि सब सुनें और तभी तक बोलो कि जब तक सुनने वालों को सुनने की उत्कंठा हो।

एक सज्जन व्याख्यान सुनाते हैं तो अपनी गाये जाते हैं और उधर गप्पें चलती रहती हैं। कोई ध्यान ही नहीं देता कि क्या कहा जा रहा है। और एक दूसरे वक्ता प्रवचन करते हैं तो सब चुप हो जाते हैं। यह सब पाप-पुण्य का खेल है। एक पुण्यशाली वक्ता सारी सभा को स्तंभित कर देता है।

पंजाब प्रान्त के होशियारपुर शहर में एक बार पूज्य श्री काशीराम जी म० पधारे हुए थे। मैं भी उनकी सेवा में था और सती पार्वतीजी भी वहीं विराजमान थीं। उस समय कांग्रेस का आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था। हमारे स्थान के सामने ही कांग्रेस-योजना के सम्बन्ध में पंडाल बनाया गया था और कोई जलसा हो रहा था। कांग्रेसी नेता आये और उन्होंने जोशीले भाषण किये। सब जोर लगा-लगा कर बोले, मगर काफ़ी शोरगुल मचा रहा। दस-बीस हजार के लगभग जनता उपस्थित थी। थोड़ी देर बाद लाजपतराय आये। वे पंजाब के अपने समय के सब से बड़े नेता थे और भारतीय प्रसिद्ध नेताओं में से थे। जाति से अग्रवाल थे। उनके घर में पहले जैन परम्परा थी, किन्तु वे आर्यसमाजी हो गये थे।

जैन समाज में पचाने की शक्ति नहीं है। यह निकालना जानता है, रखना नहीं जानता, अगर तुम लोगों में हजम करने की ताकत हो तो मैं हजारों नये जैन तुम्हें दे सकता हूं। किन्तु जब तक वे दूर रहेंगे, ठीक तरह धर्म में रहेंगे, जब तुम्हारे निकट आएगे और तुम्हारी राग-द्वेष की भड़कती हुई आग देखेंगे तो निकल भागने की कोशिश करेंगे। मैं तो यहां तक कहने को तैयार हूं कि जैन समाज में यदि पाचनशक्ति हो तो प्रतिवर्ष सैंकड़ों हजारों नये परिवार जैन बन सकते हैं। काश कि आपका सहयोग उन्हें मिल सकता! दुनिया में रहने वालों को दुनिया के साधनों की भी जरूरत होती है। जब तक उनके गृहस्थ-जीवन की

आवश्यकताएं पूर्ण न हों, तब तक वे धर्म का ठीक तरह पालन नहीं कर सकते। आखिर सभी तो साधु बन नहीं सकते हैं।

हां, तो लाजपतराय स्टेज पर आये। वे डीलडौल वाले और रौबदार थे। जब वे मंच पर आये और जनता को सम्बोधन किया तो एकदम सन्नाटा छा गया। सारी जनता चुप हो गई कोलाहल एकदम शान्त हो गया। यह दृश्य मैंने अपनी आखों से देखा है। यह भी पुण्यवान् होने का लक्षण है।

तो यहां मेरा कहने का आशय यह है कि जहां कोलाहल हो रहा हो, शोर-गुल मचा हो, हल्ला गुल्ला हो रहा हो, वहां सुनाने से लाभ ही क्या? जहां चित्त विक्षिप्त हो वहां कथा करना एक प्रकार का प्रलाप है। कथा सुनाना वहीं आनन्दप्रद और सार्थक है, जहां श्रोता प्रेमपूर्वक सुनते हों, अन्यथा नहीं।

तो जिसने वचनबल बांधा हो, वह सबको प्रिय लगता है। कोई पुण्यहीन किसी को मामाजी कह दे तो गाली समझी जाती है। लड़ाई हो जाती है। और पुण्य का उदय होने पर उलटी बात भी सीधी बन जाती है।

दो बहिनें पानी भरने के लिए कुएं की तरफ जा रही थीं। सामने से एक मुसाफिर आया और उसने देखा कि ये प्रौढ़ हैं, अत उसने अतीव आदर भाव के साथ और नम्रता पूर्वक कहा—'जय रामजी की मा', मुसाफिर का यह कहना सीधी सी बात थी। इन शब्दों में न उद्दण्डता थी और न बेइज्ज़ती की बात थी। उसके हृदय में सरलता थी।

उसने दूसरी स्त्री से भी कहा 'जीवो तेरा बेटा।' यह बात भी ठीक ही थी कि तेरा बेटा जीता रहे। दोनों बातों में कोई बुराई नहीं थी, किसी प्रकार का दुष्ट अभिप्राय नहीं था, फिर भी यह वाक्य सुनते ही दोनो को गुस्सा आ गया। वे आग बबूला हो गई। बोली—"कौन है तू राड का बेईमान, तू हमारी हसी करता है। शर्म नहीं आती ऐसा कहते।" उन्हें इतना क्रोध आया कि अपने पानी के घड़े पटक कर गाली गलौच करने लगीं। छोटी-सी बात में बड़ा

भारी द्वन्द मच गया। तब वह मुसाफिर घबरा कर कहने लगा—तुम इतना गुस्सा क्यों कर रही हो ? मैं ने तो सीधी सादी बात कही थी।

सज्जनो ! और कोई बात नहीं थी, कर्मचन्द जी की करामात थी, भाग्य का खेल था। उस मुसाफिर को पता नहीं था कि क्यों झगड़ा खड़ा हो गया। यह झगड़ा और शोरगुल सुना तो जो बहिनें घरों में रोटिया पका रही थीं, वे भी पकाना छोड़ कर लड़ाई का तमाशा देखने आ गई। धर्म कथा सुनने में इतना मजा नहीं आता, जितना लड़ाई देखने में। अलबत्ता भाग्यवान् को धर्म कथा ही प्रिय लगती है मगर कुतूहल प्रिय लोग लड़ाई देखने में ही मजा मानते हैं। तो बहुत-सी महिलाए बिना बुलाए इकट्ठी हो गई। परन्तु मनुष्य लड़ाई-झगड़ा देखने में जितना मजा मानता है, उतना यदि धर्म में मानने लगे तो उसका बेड़ा पार हो जाय।

तो बहुत से लोग भी वहा आ पहुंचे। उन्होंने पूछा इसने क्या कह दिया है ? क्या बात हो गई ? दोनों स्त्रियों ने कहा—यह बड़ा शैतान है, लुच्चा है। इसे रास्ता चलती हम से मजाक करते शर्म नहीं आई।

मुसाफिर चकित और विस्मित था। वह बोला—मैंने तो दुर्भावना से कोई शब्द नहीं कहा। एक से कहा—'जय राम जी की मा' और दूसरी से कहा—'जीवो तेरा बेटा।' किन्तु भाग्य की ही बात है कि इसी पर इन्हें क्रोध आ गया। मुझे सैकड़ों गालिया सुना दीं।

सज्जनो ! वास्तव में बात यह थी कि एक स्त्री के पति का नाम था 'जय राम' और दूसरी के पति का नाम था—'जीवा' मुसाफिर को यह मालूम नहीं था। उसने सरल भाव से यह कहा था, मगर अर्थ का अनर्थ हो गया।

कहने का आशय यह है कि उसके कर्मचन्द जी उलटे थे, इस का कारण उसकी सीधी बात भी उलटी पड़ी। आदरणीय बात कहने पर भी लड़ाई हो गई। यह सब भाग्य का खेल है। पाप खा जाता है। पुण्यवान् की बुरी बात भी अच्छी जान पड़ती है।

भाइयो ! भाग्य भी जुदा-जुदा होते हैं । परिवार में कोई ऐसा जन्म लेता है, जो सात पीढ़ियों की दरिद्रता को दूर कर देता है और सुख-समृद्धि की वृद्धि करता है । इसके विपरीत कोई ऐसा भी जन्मता है जो सात पीढ़ियों की संचित समृद्धि को समाप्त कर देता है और सम्पन्न परिवार कंगाल और भूखा हो जाता है । यह सब पुण्य-पाप का परिपाक है ।

धन्ना जी जन्म लेने को हुए और दाई को बुलाया गया तो उसने भी इन्कार कर दिया, क्योंकि वह जानती थी कि इन के घर से मुझे मिलने वाला ही क्या है । सचमुच दरिद्रता बहुत बुरी वस्तु है । दरिद्र पुरुष किसी को कोई वस्तु देने आता है तो भी यही समझा जाता है कि कुछ मांगने आया है । तो दरिद्र नारायण जहां भी जायगा, मनुष्य की स्थिति गड़बड़ में डाल देता है ।

दाइ ने इन्कार किया तो सेठ ने बहुत मिन्नत की । तब दाई को ख्याल आया—इस घर से मैंने बहुत कुछ पाया है । इस बार न मिला तो न सही । यह सोच कर वह आने को तैयार हो गई । वह आई, बच्चे का जन्म हो गया और कुशलक्षेम पूर्वक प्रसूतिकर्म सम्पन्न हो गया । नाल गाड़ने का समय आया तो गड्ढा खोदा गया । सौभाग्य का फल समझिए खड्डा खोदते समय मोहरों का चरु निकल आया । तब सेठ ने सोचा—पहले के तीन पुत्रों के जन्म ने तो मुझे इस हालत में पहुंचा दिया और इतनी चिन्ता उत्पन्न कर दी कि शायद झौंपड़ी ही बिक जायगी, किन्तु गनीमत है कि इस चौथे पुत्र ने सारी दरिद्रता दूर कर दी ।

सेठ ने सोचा—'सब से पहले दाई का मुंह मीठा कराना चाहिए ।' दरिद्रता आई तो क्या हुआ, खानदानी सेठाई तो उसमें थी ही ! सेठ ने दो-चार धोबे भर कर दाई की झोली में डाल दिये, जैसे कोई-कोई बहिन खुले हाथ से आटा देती है किसी बाबा-जोगी को ! परन्तु कोई-कोई ऐसी भी होती है जो ऐसी तरकीब से मुट्ठी भर कर लाती हैं कि देखने वाला समझे कि आटा जैसे बाहर निकला जा रहा है । कहती हैं—बाबा जी आटा लो । बाबा जी

कहते हैं—'बेटा, ऊपर से डाल दो।' तब वह भद्रा कहती है—'नहीं, बाबा जी।' मैं तो झोली में डालूंगी, कहीं ऐसा न हो कि आटा हवा में उड़ जाय।' तब वह मुट्ठी झोली में ले जाती हैं। पता नहीं, वह आटा डालती है या निकालती है' सत्य तो यह है कि दानान्तराय कर्म टूटे बिना दिल से दान भी नहीं दिया जाता।

शास्त्रकारो का कथन है कि साधु गोचरी के लिए जाय और दाता का मन न देखे तो पात्र खींच ले। इसके अतिरिक्त साधु को गोचरी करते समय सूझते-असूझते आदि का भी विवेक रखना पड़ता है। अगर साधु एक ही बार गोचरी के बदले 'गधाचरी' कर ले तो गृहस्थ फिर बहराने का नाम ही न ले।

सज्जनों, एक होती है गोचरी और एक होती है गधाचरी। जैसे गाय अनेक स्थानों से थोड़ा-थोड़ा आहार घास ग्रहण करती है, और घास को हानि नहीं पहुँचाती और अपना पेट भी भर लेती है, इसी तरह साधु गोचरी करता है। साधु की गोचरी से किसी गृहस्थ को तकलीफ नहीं होती। मगर गधाचरी की बात अलग है। गधा एक ही जगह के घास को जड़ सहित उखाड़ कर खा जाता है। तो एक ही जगह से पूरा या बहुत आहार लेना गधाचरी है। गधाचरी से गृहस्थ (दाता) को तकलीफ होती है। इसी कारण भगवान् ने साधु को गोचरी करने का आदेश दिया है, गधाचरी करने का नहीं। भले ही कोई दाता उदार हृदय हो, फिर भी साधु को अपनी मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए।

जब धन्ना सेठ अंजलि भर कर स्वर्ण-मोहरें दाई को देने लगे तो दाई ने विस्मित हो कर कहा-नहीं सेठजी, रहने दीजिए। ऐसा मत कीजिए। मेरे लिए तो एक ही मोहर काफी है। परन्तु उदार धन्ना ने कहा—नहीं नहीं, ले लो। तुम्हारा इस घर से पुराना संबंध है।

तो कहने का आशय यह कि पुण्य में अपूर्व शक्ति होती है। धन्ना जी पुण्य साथ लेकर आये तो धन से मालामाल बना दिया घर को। धन गाड़ने वाले ने न जाने किस आशा से धन गाड़ा था, परन्तु पुण्यवान् ने उसका भोग

किया। स्वभाव अर्थात् प्रकृति, भाग (भाग्य), पाग अर्थात् पगड़ी और लेखनी सब के अलग-अलग होते हैं। एक परिवार के पाच सदस्यों में से सभी के स्वभाव एक सरीखे नहीं होते। फिर भी सब को निभाना होता है। यह संभव नहीं कि सब के स्वभावों को एक ही साचे में ढाला जा सके। और जैसे तुम अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकते, उसी प्रकार दूसरा भी अपना स्वभाव नहीं त्याग सकता। तुम्हें अधिकार भी क्या है कि दूसरे से ऐसी आशा करो

इसी प्रकार लेखन-हस्ताक्षर भी किसी के किसी से नहीं मिलते। लेखन में अन्तर न होता तो लोग सरकार को दाम ही न देते। हस्ताक्षरों के विशेषज्ञ फौरन ही इस भेद को पहचान लेते हैं। भाग्य भी सब का अलग-अलग होता है और पगड़ी भी न्यारी-न्यारी होती है। आशय यह है कि आप किसी भी देश में चले जाइए, आपको यह सब चीजें अलग-अलग ही मिलेंगी। ठीक इसी तरह विभिन्न जीवों की परिणतियाँ भी—कर्मभूत स्वभाव भी पृथक-पृथक् ही होती हैं। कोई अल्पसंसारी है तो कोई बहुसंसारी है। किसी को तीव्र कर्मोदय है तो कोई मन्द कर्मरस भोग रहा है।

तो मैं कहने जा रहा था कि सम्यक्त्व को प्राप्त करने के अनेक साधन हैं। पुण्य का उदय होता है तो एक कबाड़ी भी लाखों कमा लेता है और निहाल हो जाता है। इसके विपरीत पाप का उदय होने पर जवाहरात का व्यापार करने वाला लाला भी महान् हानि का भागी होता है। दिल्ली में एक जैन जौहरी का अच्छा काम चलता था। उनके पास ६२ हजार की कीमत के जवाहरात थे। किन्तु भाग्य की बात समझिए कि मन्दी आ गई और उसकी कीमत सिर्फ १३ हजार रह गई। आज नकली-इमीटेशन नगों ने असली जवाहरात को भी पीछे पटक दिया है।

बम्बई (कादावाड़ी) में मेरा चातुर्मास था। एक लड़का दर्शन करने आया। सहज में ही मैंने उससे पूछ लिया—आप क्या काम करते हैं? उसने कहा—मैं नकली जवाहरात का काम करता हूँ। विलायत से इसकी शिक्षा प्राप्त कर

के आया हूँ। उसने यह भी कहा कि नकली जवाहरात ऐसे ढग से बनाये जाते हैं, कि हर एक के लिए उसका पहचानना कठिन है।

आज नकली जवाहरात के खरीददार बहुत हैं, किन्तु असली के खरीददार विरले ही मिलते हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व के खरीददार तो बहुत हैं, पर समकित के पोषक, भगवान् वीतराग की वाणी के ग्राहक थोडे हैं। खैर, कोई बात नहीं, थोड़े भी मनुष्य अगर असली जवाहरात के खरीददार हैं तो कोई हर्ज नहीं। मुझे तो असली माल ही बेचना है। इमीटेशन का माल नहीं बेचना है। भगवान् जितेन्द्र की दुकान इमीटेशन की नहीं है। अगर यहा भी नकली माल मिलने लगा तो फिर असली कहा मिलेगा? पर आज क्या हो रहा है? यह जो बाइयाँ पचोला और अढाई का प्रत्याख्यान करने आ रही हैं और साथ में नारियल तथा कच्चे पानी का लोटा उपाश्रय में ला रही हैं, क्या यह स्थानकवासी जैन संस्कृति है? यह सब दूसरों की नकल की जा रही है। यह इमीटेशन खरीदना नहीं तो क्या है? असली जवाहरात की बात तो यह है कि शान्ति से तपस्या करना, इन्द्रियों का दमन करना और गुप्त तपस्या करना। धर्म की प्रभावना करना ठीक है, किन्तु यह भी तो समझना चाहिए कि प्रभावना होती किस प्रकार है? आज जिन शासन के विषय में जो घोर अज्ञान फैला हुआ है, उसको निवारण करना सबसे बड़ी प्रभावना है। यह नहीं बनता तो दान दो, स्वाध्याय करो, स्वधर्मी को सहयोग दो, ऐसा सहयोग दो कि कोई स्वधर्मी भाई मोहताज न रहे। इस प्रकार प्रभावना के अनेक उपाय हैं। अपना व्यवहार प्रामाणिक बनाओ, नीति के अनुसार वर्त्ताव करो, व्यापार में ईमानदारी रक्खो, जिससे ससार पर यह छाप पडे कि जैन-धर्म के अनुयायी का जीवन अत्यन्त उत्कृष्ट और पवित्र होता है। ऐसा करने से जैनेतर जनों में जैनधर्म का प्रभाव बढ़ेगा। बाजे बजवा लेने और बाजार में कीमती कपडे पहन कर निकल जाने से धर्म की क्या प्रभावना होगी?

तुम्हारे ऊपर अकबर बादशाह का कोई टेक्स नहीं लगा हुआ है कि तपस्या करके तुम्हें इधर-उधर अनेक स्थानों पर भटकना पड़े और चढावा चढ़ाना पडे । आज राज्य बदल गया। प्रजा बदल गई, किन्तु, बहिनों! तुम नहीं बदली। पहले गाँव के ठाकुर और जमींदार गरीबों से बेगार लेते थे, उन्हें मिहनत के पैसे भी नहीं देते थे, किन्तु आज के शासन में बेगार बंद कर दी गई है। भारत सरकार ने कानून बना दिया है कि मनुष्य के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करना जुर्म है। जब प्रत्येक अफसर को सरकार की ओर से वेतन मिलता है, तो उसे किसी से बेगार लेने का अधिकार नहीं है। तो मैं कह रहा था कि जब सरकार ने भी कानून बना कर बेगार को बंद कर दिया है, जागीरदारों द्वारा लगाये हुए नाना प्रकार के टेक्स बद कर दिये गये हैं और जमीन जोतने वाले जमीन के मालिक बनते जा रहे हैं, तो क्या तुम्हारा टेक्स अब भी ज्यों का यों चलता रहेगा याद रक्खो, यह तुम्हारी कमजोरी है, शिथिलता है और श्रद्धा दृढ न होने का परिणाम है।

तो आज आप इमीटेशन की तरफ झुकते जा रहे हो। पर सज्जनों! चाहे इमीटेशन के कडे पहन लो, चाहे झेले कान में डाल लो, मगर याद रखना, नकली नकली है और असली असली है। नकली की चमक-दमक और झलक स्थायी नहीं है। पसीना लगने से उसका पानी उतर जायगा। मैं कहता हूँ, भगवान् का मार्ग असली जवाहरात का है। उसे छोड़ कर नकली को और मत झुको। ऐसा करने से आप ऊपर से नीचे गिरेंगे, आपका पतन होगा।

भगवान् वीतराग की वाणी पर अखण्ड और अविचल विश्वास रख कर उसे ही जीवन की सर्वोपरि साधना का प्रधान आधार बना कर व्यवहार करो। यही सच्चे श्रद्धालु और धर्मप्रेमी जनों का कर्त्तव्य है। किसी की नकल मत करो। मौलिक रंग से अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करो।

किसी साहूकार के पड़ौस में एक जाट रहता था। वह विधुर था। साहूकार के घर सवेरे ही सवेरे माल बनता था। जब सेठानी घी में आटे का घोल

डालती तो छुन्न-छुन्न की आवाज आती । जाट ने यह आवाज़ सुनकर सोचा प्रतिदिन यह एटमवम कैसे सहन करूँ। यद्यपि मैं सेठ को ऐसा करने से इंकार नहीं कर सकता, किन्तु इसका उत्तर अवश्य दूँगा। उसने उत्तर देने की विधि भी खोज ली।

दूसरे दिन उसने मोटी-मोटी रोटियाँ वनाईं । रोटियाँ वना कर मोटे और गरम तवे पर पानी छिड़का। ऐसा करने से छुन्न-छुन्न की आवाज आई। यह आवाज सुनकर सेठ की छाती में धक्का-सा लगा। तव सेठ ने पूछा—अरे भाई यह छुन्नाटा तेल का है या घी का? जाट बोला—चाहे घी का हो या तेल का, छुन्नाटे में फर्क नहीं आएगा। मैं इस मामले में आपसे पीछे रहने वाला नहीं।

सेठ बोला—छुन्नाटा तो हो जायगा, पर इतने मात्र से क्या मालपुआ का भी मजा आ जाएगा?

सज्जनो। नकल तो दूसरों की कर लोगे किन्तु आनन्द जिनवाणी के विना नहीं आएगा। नारियल फोड़ने से और जल के कलश की धारा छोड़ने से आत्मिक आनन्द नहीं आ जाएगा। यह सव सावद्य क्रियाए तुम्हे छोड़नी चाहिए।

वहिनो। मेरे कथन को ध्यानपूर्वक सुनो, समझो और उस पर विचार करो। तुम्हें घर में शाक-सब्जी वनानी पड़ती है, कच्चे पानी का आरम्भ करना पडता है और दूसरी क्रियाए करनी पड़ती हैं, पर वे अर्थदण्ड के अन्तर्गत हैं, किन्तु देवबुद्धि से नारियल फोड़ना और जल-कलश चढ़ना आदि अनर्थदण्ड है। तुम्हें दान देना है तो भूखे को खिलाओ, या स्वधर्मी भाई-वहिन की सहायता करो, मगर तुम तो मरे को और मरती हो। कहा है—

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्य, नीरुजस्य किमौषधै ॥

अर्थात्, अगर दान देना है तो उन्हें दो, जो दरिद्र हैं, जिन्हें उसकी आवश्यकता है। धनी को धन देने से क्या लाभ है ? जो रोगी है, पीड़ा से कराह रहा है, उसी के लिए औषध पथ्य हितकारी है। नीरोग को औषध खिलाने-पिलाने से क्या लाभ होगा ?

मरुस्थल में वर्षा होती है तो जल की एक-एक बूंद का मूल्य मोती के बराबर होता है, समुद्र में वर्षा हो गई तो किस काम की ? वहां तो पहले ही अथाह और असीम सलिलराशि भरी पड़ी है।

एक बार मैं रोहतक में था। एक दिन जगल जाकर आ रहा था कि वर्षा आ गई। मैं एक तरफ मकान में जाकर खड़ा हो गया। सड़क पर नाले की तरह पानी बहने लगा। इतने में एक बुढिया आई और चौराहे पर पानी उडेलने लगी। बाद में मैंने उससे पूछा पानी किस लिए डाला मा जी ? तब उस वृद्धा ने उत्तर दिया— चौराहे वाली माता को। मैंने उससे कहा—वह तो पहले ही डूबी हुई है? ऊपर से तू ने पानी और उडेल दिया उस पर।

कहने का आशय यह है कि यह महिलासमाज बावली सरकार है। इसे समझाना सरल नहीं। मगर बहिनें यह न समझें कि मैं उनकी बुराई कर रहा हूं। मैं जो कुछ कह रहा हू। तुम्हारे हित के लिए कह रहा हू। करुणाभाव से कहता हू। घृणा भाव से नहीं। जैसे कुतुबुद्दीन (कुत्ते) की आदत होती है कि कहीं भी टाग ऊची की और मूत दिया। इसी प्रकार अधश्रद्धा के गहन तिमिर में विचरण करने वाली बहिनें भी जहा तहा, दीवार पर, पत्थर पर और चौराहे पर पानी डाल देती हैं। मगर प्रश्न तो यह है कि उससे लाभ क्या हुआ ? उस पानी से किस की प्यास नहीं बुझी और किसी का सन्ताप शान्त न हुआ तो वह पानी डालना निरर्थक ही नहीं, दुरर्थक हो गया हानिकारक सिद्ध हुआ, क्योंकि व्यर्थ ही हिंसा के पाप का उपार्जन किया गया। तो फिर ऐसा करना अज्ञानता है। कोई भी क्रिया जब विवेक को तिलाजलि दे कर की जाती है, तो वह लाभ के बदले हानि ही पहुंचाती है। अतएव बहिनों से मेरा

यही कहना है कि चाहे थोड़ी-सी ही करनी करो, परन्तु यह ज्ञानयुक्त होनी चाहिए। उस क्रिया के पीछे जागृत विवेक शीलता होनी आवश्यक है। ऐसा होने पर स्वल्प क्रिया भी अधिक फल प्रदान कर सकेगी। मिथ्यात्व का विष अधिक और उग्र करणी को भी हानिकारक बना देता है। कोई बाई प्रासुक जल पीती हो और कच्चे पानी के लोटे के लोटे ढोल दे तो वह एकादशी की जगह द्वादशी हो जाती है। यही है अविवेक, जो आत्मा को उठाता नहीं, गिराता है।

सज्जनो। सम्यग्दृष्टि भी क्रिया करता है और मिथ्यादृष्टि भी। ऊपर-ऊपर से देखने पर दोनों की क्रिया में अन्तर प्रतीत नहीं होता। कभी कभी तो मिथ्या-दृष्टि की क्रिया सम्यग्दृष्टि की क्रिया से भी अधिक उग्र दिखलाई पड़ती है। परन्तु अन्तर्दृष्टि से देखने पर दोनों में 'अन्तर महदन्तर' प्रतीत होगा। सम्यग्दृष्टि की क्रिया विवेक से विभूषित होती है। विवेक के दिव्य आलोक से उसका अन्तरग उद्भासित होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि की क्रिया में विवेक का आलोक नहीं होता। उस पर अविवेक की सघन छाया पड़ी होती है, जिसके कारण उसमें मलीनता होती है। यही कारण है कि दोनों के फल में धरती और आकाश जितना अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि की क्रिया भव- भ्रमण का कारण और सम्यग्दृष्टि की क्रिया जन्म-मरण के निवारण का कारण बनती है।

वस्तुत विवेक ही समस्त साधनाओं में अमृत भरता है। इसी लिए कहा जाता है कि जहा विवेक है, वहीं धर्म है और जहा विवेक नहीं वहा पाप है। अविवेकी को धर्म का लाभ मिलने वाला नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि विवेक की उपलब्धि कैसे हो। इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि विवेक की प्राप्ति सम्यक्त्व से होती है। शुद्ध विचार शुद्ध लक्ष्य, शुद्ध रुचि, शुद्ध श्रद्धा और आत्मस्वरूप का समीचीन श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का महत्त्व वाणी से अगोचर है। वास्तव मे वह मन

से भी अचिन्त्य है। सम्यक्त्व की महिमा का पार नहीं। ऐसा महान् गुण यों ही प्राप्त नहीं हो जाता। उसके लिए साधनों की आवश्यकता है। यद्यपि सम्यक्त्व का उपादान स्वयं आत्मा ही है, किन्तु केवल उपादान कारण ही कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। निमित्त कारण की भी अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। निमित्त कारण अनेक होते हैं। इन निमित्त-भेदों से ही सम्यक्त्व के भेद किये गये हैं।

शास्त्रकार कहते हैं, जो द्वितीय श्रेणी के जीव होते हैं, उन्हें स्वयमेव सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। वे उपदेश सुनकर सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं। वे अल्पज्ञों से भी सुनते हैं और सर्वज्ञ से भी सुनते हैं। सर्वज्ञ के मुखारविन्दसे सुनने का पुण्यप्रसग तो कभी-कभी ही मिलता है और वह भी सब को नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ इस क्षेत्र में सदैव विद्यमान नहीं रहते। अल्पज्ञों से ही प्राय. उपदेश सुनने का अवसर मिलता है। किन्तु सुनने का आनन्द तभी आ सकता है जब श्रोता आदि से अन्त तक सुने। तभी उसे पता चलेगा कि क्या बात चली थी और क्या समास था? इसके विपरीत श्रोता यदि बीच में आया तो आधी बात तो समाप्त हो गई, फिर उसे पशोपेश में पड़ जाना पड़ता है कि सम्बन्ध क्या है? उसका श्रवण असम्बद्ध-सा हो जाता है। एक दृष्टान्त द्वारा यह बात स्पष्ट कर देना ठीक होगा।

एक सेठजी थे। उन्होंने प्रण कर रखा था कि वे धर्म-क्रिया किये बिना और धर्मोपदेश सुने बिना न भोजन करते थे और न दुकान जाते थे। उनके यहाँ एक नौकर था और वह आज्ञाकारी तथा विनीत था। वह सेठजी को जिमा कर ही जीमता था। हमेशा सेठजी दस-ग्यारह बजे भोजन कर लेते थे, अतएव उसे कोई दिक्कत नहीं होती थी, भूखा नहीं रहना पड़ता था। एक बार कोई विशेष पूर्व का दिन आया। सेठजी स्थानक में सामायिक करके बैठ गये और व्याख्यान सुनने लगे। उस दिन बहुत लम्बे समय तक व्याख्यान चलता रहा।

नौकर ने भोजन बना कर रख लिया। वह प्रतीक्षा कर रहा था कि सेठजी आवें और उन्हें भोजन करा कर वह भी भोजन करे। किन्तु सेठजी बहुत देर से घर पर आए। नौकर बेचारा भूख से तिलमिला उठा। उसने यह भी निश्चय कर लिया कि अब मुझे ऐसी नौकरी नहीं करनी है, जिसमें भूखो मरना पड़े। जब सेठजी आये तो घर की चाबियाँ उसने उनके सामने फेंक दी। कहा—सँभालिए अपनी चाबियाँ, मै तो तो अब जाना चाहता हूँ। मुझे छुट्टी दीजिए।

सेठजी ने यह सब सुन कर कहा—भाई, बात क्या है? वेतन थोड़ा हो तो कह दे, और बढा दूँ। इतने हाथ-पैर क्यों पटक रहा है? जो बात हो सो बता दे।

नौकर ने कहा—मैं आपके यहाँ रह कर क्या करूँ जबकि समय पर भोजन भी नहीं मिलता और भूखा मरना पड़ता है। आप बहुत देर से आओ और मैं भूखा बैठा आपकी राह देखा करूँ। यह मुझे सहन नहीं होता। अतएव मुझे ऐसी नौकरी की आवश्यकता नहीं है।

आम तौर पर देखा जाता है कि भूखे क्रोध अधिक आता है। कोई भाग्यवान् तपस्वी ही ऐसा मिलेगा जिसे क्रोध न आता हो। तपस्या करते समय क्रोध के पुद्गलों में प्राय तेजी आ जाती है।

तो सेठजी ने नौकर का यह हाल देख कर कहा—अच्छी बात है। जाने का निश्चय ही कर लिया है तो जाओ, मगर मेरे लिए दो आने की बर्फी बाजार से ला दो।

नौकर पहले से ही भूखा था और बाजार दूर था। फिर भी उसे बर्फी लाने को कह दिया। मगर उसने सोचा-जाना तो है ही, एक छोटे-से काम के लिए मुकरना योग्य नहीं, यह सोच कर वह बर्फी लाने चला गया।

नौकर बर्फी लेकर आया ही था कि सेठ ने उसके हाथ में दुअन्नी पकड़ाते हुए कहा—'अब जेलबी और ला दो।' वह जेलबी भी ले आया तो कहा—

'दो आने की बादाम-बर्फी ला दो। नौकर सोचने लगा—सेठजी कर क्या रहे हैं ? पूर्वजन्म के किसी वैर का बदला तो नहीं ले रहे हैं। वह मन-ही-मन जलता-भुनता गया और बादाम-बर्फी भी ले आया। जब वह भी लेकर आया तो कहा—जरा खोपरापाक भी ले आओ। नौकर के क्रोध का पार न रहा, मगर वह खोपरापाक भी ले आया। उसने सोचा—अब छुट्टी मिल जाएगी। मगर जब खोपरापाक भी ले आया तो सेठजी बोले—अरे भाई, गुलाबजामुन तो रह ही गये। वह भी ले आओ। नौकर क्रोध से एड़ी से चोटी तक जल उठा। मगर सोचने लगा—आज पूर्वभव के वैर का बदला देना है तो चुका ही देना चाहिए। और वह रोता पीटता किसी तरह चला गया और गुलाब-जामुन भी लेकर आ गया। तब सेठ ने कहा—'भई' मिठाइयाँ तो आ गईं, परन्तु नमकीन के बिना इनका मज़ा क्या आएगा ? दो आने का वह भी ले आओ न ?

नौकर के लिए यह असह्य हो गया। उसने कहा—उधर तो मैं भूख से बिलबिला रहा हूँ और इधर आप बार-बार मुझे भटका रहे हैं। मैं अब हर्गिज नहीं जाने का। मुझे छुट्टी दे दीजिए।

सेठ जी ने शान्ति पूर्वक कहा—नहीं जाता तो रहने दे। यह कह कर उन्होंने दो आने वापिस ले लिये और भोजन करने बैठे। नौकर को भी साथ बिठा लिया। जो कुछ उन्होंने खाया, वही सब नौकर को भी खिलाया। कहते हैं—एक हन्डिया में दो पेट नहीं होने चाहिए। यह नहीं होना चाहिए कि सेठ तर माल डकार जाय और नौकर को रूखा-सूखा मिले। यह हीन भावना है, हृदय की निन्दनीय संकीर्णता है और इस से बढ कर क्षुद्रता दूसरी नहीं हो सकती।

हां, तो नौकर का 'लेटर-बक्स' (उदर) भर गया। उसे भूख की तिल-मिलाहट से छुटकारा मिला। शान्ति प्राप्त हुई। उसका क्रोध भी शान्त हो गया। तब उसने कहा—सेठ साहिब ! वह दुअन्नी दीजिए, नमकीन ले

आऊं। सेठ बोले—भाई, राई के भाव तो रात को ही गये। अब दो आने तो क्या, मैं फूटी कौड़ी भी नहीं दूंगा। नौकर मचल गया—नहीं साहब, नमकीन तो लाना ही पड़ेगा। उसके बिना मिठाइयों का कोई मजा ही नहीं। सब खाना बेकार है। इस प्रकार कह कर वह नमकीन के लिए तड़फने लगा। कहने लगा—मैंने बड़ी भूल की। एक चक्कर और काट लेता तो तो मजा आ जाता। तबियत तृप्त हो जाती।

सेठ जी मुस्करा कर कहने लगे—भैया, मज़ा लूटने के लिए मशक्कत करनी पड़ती है। भूल की है तो उसके लिए पश्चात्ताप और प्रायश्चित करना ही उचित है। देखो, अधूरा काम पश्चात्तापजनक होता है। इसी प्रकार मैं अधूरा व्याख्यान सुन कर चला आऊ तो मुझे भी पश्चात्ताप करना पड़े। मेरी अनुपस्थिति मे न जाने कौन-सा अलौकिक भाव निकल जाय और मैं उसके आनन्द से वञ्चित रह जाऊ।

भाइयो। आप लोग भी अगर आदि से अन्त तक उपदेश सुनेंगे तो पूरी बात सुनने को मिलेगी और मजा भी पूरा ले सकोगे। अधूरा सुनेंगे तो अधूरा ही आनन्द रह जाएगा। जैसे उस नौकर को पश्चात्ताप करना पड़ा, उसी प्रकार आपको भी पछताना पड़ेगा। सज्जनो, चटपटी चीजें तो नौकर को चाहे तभी मिल सकती हैं, मगर उपदेश के वे भाव फिर नहीं मिल सकते। जो शब्द वातावरण मे विलीन हो गये, उन्हें आप कहा खोजते फिरेंगे और कैसे पाएंगे? वीतराग देव की वाणी को श्रवण करने के लिए प्रबल पुण्य की अपेक्षा रहती है। शास्त्र में चार अंग अत्यन्त दुर्लभ बतलाये हैं।—मनुष्यत्व, वीतराग की वाणी का श्रवण, उस पर श्रद्धा होना और संयम का अनुभव करना। आपको इस प्रशस्त चतुष्टय में से मनुष्यभव मिल गया है तो वीतराग की वाणी का श्रवण भी करना चाहिए। यह अवसर बार-ब[illegible] वाला नहीं। भगवद् वाणी आपके मनुष्यभव को सफल और

सार्थक बनाएगी। इस भव में भी और अनन्त भविष्य में भी आपके लिए कल्याणकारिणी सिद्ध होगी।

आशय यह है कि जो आत्माएं केवलियों से अथवा केवलियों के कथनानुसार छद्मस्थों से उपदेश सुनती हैं उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अतएव उपदेश को सम्यक्त्व की प्राप्ति का एक कारण समझ कर उपदेश श्रवण करने वाले यहां भी आनन्द पाएंगे और परलोक में भी आनन्द प्राप्त करेंगे।

ब्यावर,

१०-८-५६

आऊं। सेठ बोले—भाई, राई के भाव तो रात को ही गये। अब दो आने तो क्या, मैं फूटी कौड़ी भी नहीं दूंगा। नौकर मचल गया—नहीं साहब, नमकीन तो लाना ही पडेगा। उसके बिना मिठाइयों का कोई मजा ही नहीं। सब खाना बेकार है। इस प्रकार कह कर वह नमकीन के लिए तड़फने लगा। कहने लगा—मैंने बड़ी भूल की। एक चक्कर और काट लेता तो तो मज़ा आ जाता। तबियत तृप्त हो जाती।

सेठ जी मुस्करा कर कहने लगे—भैया, मजा लूटने के लिए मशक्कत करनी पड़ती है। भूल की है तो उसके लिए पश्चात्ताप और प्रायश्चित करना ही उचित है। देखो, अधूरा काम पश्चात्तापजनक होता है। इसी प्रकार मैं अधूरा व्याख्यान सुन कर चला आऊ तो मुझे भी पश्चात्ताप करना पडे। मेरी अनुपस्थिति में न जाने कौन-सा अलौकिक भाव निकल जाय और मैं उसके आनन्द से वञ्चित रह जाऊ।

भाइयो! आप लोग भी अगर आदि से अन्त तक उपदेश सुनेंगे तो पूरी बात सुनने को मिलेगी और मजा भी पूरा ले सकोगे। अधूरा सुनेंगे तो अधूरा ही आनन्द रह जाएगा। जैसे उस नौकर को पश्चात्ताप करना पड़ा, उसी प्रकार आपको भी पछताना पड़ेगा। सज्जनो, चटपटी चीज़ें तो नौकर को चाहे तभी मिल सकती हैं, मगर उपदेश के वे भाव फिर नहीं मिल सकते। जो शब्द वातावरण में विलीन हो गये, उन्हें आप कहा खोजते फिरेंगे और कैसे पाएंगे? वीतराग देव की वाणी को श्रवण करने के लिए प्रबल पुण्य की अपेक्षा रहती है। शास्त्र में चार अंग अत्यन्त दुर्लभ बतलाये हैं।—मनुष्यत्व, वीतराग की वाणी का श्रवण, उस पर श्रद्धा होना और समय का अनुभव करना। आपको इस प्रशस्त चतुष्टय में से मनुष्यभव मिल गया है तो वीतराग की वाणी का श्रवण भी करना चाहिए। यह अवसर बार-बार आने वाला नहीं। भगवद् वाणी आपके मनुष्यभव को सफल और

सार्थक बनाएगी। इस भव में भी और अनन्त भविष्य में भी आपके लिए कल्याणकारिणी सिद्ध होगी।

आशय यह है कि जो आत्माए केवलियों से अथवा केवलियों के कथनानुसार छद्मस्थों से उपदेश सुनती हैं उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अतएव उपदेश को सम्यक्त्व की प्राप्ति का एक कारण समझ कर उपदेश श्रवण करने वाले यहा भी आनन्द पाएगे और परलोक में भी आनन्द प्राप्त करेंगे।

ब्यावर,

१०-८-५६

३

उपदेशरुचि सम्यक्त्व

इस जगत् में स्थूलदृष्टि लोग धन, धान्य आदि बाह्य वैभव में ही पुण्यशीलता और सौभाग्यशीलता की कल्पना करते हैं। जिनके पास भोगविलास की सामग्री की प्रचुरता है, वे बडे पुण्यवान् माने जाते हैं। दुनिया उन्हें भाग्यशाली कहती है। किन्तु आत्मज्ञानी महापुरुषों की पुण्य और सौभाग्य को परखने की कसौटी यह नहीं है। जैसे पड़ौसी की सम्पत्ति से कोई सम्पत्तिशाली नहीं हो हो सकता, उसी प्रकार आत्मा से भिन्न जो पराया है, उसकी वजह से आत्मा सौभाग्यवान् या पुण्यवान् नहीं हो सकती। संसार में जो भी पौद्गलिक वैभव है, सम्पत्ति है, ऋद्धि है, वह आत्मा के लिए परायी है। उससे आत्मा वैभवशाली नहीं बन सकता। आत्मा भ्रम के वश होकर पौद्गलिक पदार्थों को ममता के डोरे से भले अपने साथ बाध ले पर वह बन्धन अस्वाभाविक है, काल्पनिक है और वास्तविक नहो है। आत्मा का नैसर्गिक वैभव तो वही है जो आत्मा का अपना है और पर निमित्तक नहीं है। वह वैभव आत्मा मे भरा पड़ा है। उसकी कोई सीमा नहीं, कोई परिमाण नहीं। वह अक्षय है, अविनाशी है और सदैव आत्मा में विद्यमान है। उसे वैभव के सामने पौद्गलिक वैभव नगण्य है, तुच्छ है।

चाहे मणि हो या तृण, चाहे पाषाण हो या हीरा हो, आखिर पुद्गल ही का। अपने आप में क्या मूल्य है? उसे अगर कोई मूल्य मिलता है

तो आत्मा की बदौलत ही आत्मा ने ही हीरे को मूल्यवान् बनाया है।
पुद्गल में वैभव का आरोप किया है। आत्मा हीरे को मूल्यवान् न
तो हीरे में क्या शक्ति थी कि वह अपने आपको मूल्यवान् सिद्ध कर
तो समस्त पौद्गलिक पदार्थों को न्यून या अधिक मूल्य प्रदान व
आत्मा ही है।

अब आप विचार कीजिए कि जिस आत्मा में जड़ पदा
मूल्यवान् बना देने का सामर्थ्य है, जो उन्हें वैभव के रूप में प
सकता है, उस आत्मा के वैभव का क्या ठिकाना है? वास्तव में
वैभव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उस वैभव के सामने
क्या मूल्य है?

ऐसी स्थिति में पौद्गलिक पदार्थ ज्ञानी पुरुषों को भ्रम में नहीं डा
जिसने जड़ और चेतन के वास्तविक स्वरूप को समझ लिया है, वह
प्रलोभन में कभी पड़ ही नहीं सकता। इसीलिए महापुरुष कहत
मनुष्य! तेरा जो सौभाग्य है और तेरी जो पुण्यशीलता है, वह भौति
पर निर्भर नहीं है। तू पौद्गल पदार्थों को मूल्यवान् मान लेता है त
वान् कहलाने लगते हैं। अच्छा समझ लेता है तो अच्छे कहलाने
और फिर उनकी ही बदौलत तू अपने को भाग्यवान् समझता है। इ
का क्या ठिकाना है। तू जरा वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर। वास्त
को समझने का प्रयास कर। मर्म की बात पहचान। पुद्गल को श्रे
वाला तू है या पुद्गल तुझे श्रेष्ठ बनाने वाला है? तू अपने आप
नता नहीं! तू ने अपने आपको गाढतम अंधकार से आच्छादित कर
इसीलिए तू पर-पदार्थों में, पुद्गलों में आसक्त हो रहा है और उ
अपने को भाग्यवान् और पुण्यवान् समझ रहा है।

भौतिक पदार्थ हैं, वहुत आलीशान मकानात हैं, घन-दौलत है, उत्तम फर्नीचर है, वहुसंख्यक नौकर-चाकर और सहचर हैं, सुख-दु ख में भाग लेने वाले मित्र हैं, सव प्रकार की सुख-सामग्री है, वही पुण्यवान् है, वही सौभाग्यवान् है। इन पदार्थों का जिसे जितना अधिक योग मिला है, वह अपने आपको उतना ही वड़ा मानता है।

भद्र पुरुषो। मगर यह कल्पना सत्य नहीं है। वास्तव में यह निरा अज्ञान है। जिन वस्तुओं की वदौलत वह अपने आपको पुण्यशाली समझता है, वे पदार्थ क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। भूकप आया तो घरती में समा जाते हैं। महामारी का प्रकोप हुआ तो उनके भोक्ता ही चल वसे। वाढ आई तो पानी में वह गये। डाकू आये तो उन पदार्थों के साथ प्राण भी लेकर चले गये। आशय यह कि अन्तराय कर्म का उदय आता है तो उनके विलग होने में देर नहीं लगती। सव स्वर्गीय सुख एक ही क्षण में गायब हो जाते हैं और बाबू जी कोरे के कोरे ही रह जाते हैं।

सरोवर में जव तक स्रोत आता रहता है तव तक वह जल से परिपूर्ण रहता है और जव स्रोत वंद हो जाता है तो पानी शनै' शनै सूख कर अन्त में समाप्त हो जाता है। जव तक सरोवर में पानी है और वृक्षों पर फल हैं, तव तक पशु पक्षी और मनुष्य उनके पास आते हैं। कौन-सी शक्ति है जो उन्हें खींच लाती है? शीतल जल और मधुर फलों की शक्ति ही उनके आकर्षण का कारण है। किन्तु भद्र पुरुषों। कौन-सा सरोवर है वह जिसमें वाहर से पानी आता हो और फिर वह कभी न सूखता हो? चाहे फतह सागर नाम रखलो या उदयसागर, मगर जव तक उनमें ऊपर से पानी आ रहा है, तभी तक उनका गुणगान किया जाता है। तभी तक वह आवाल वृद्ध की जिह्वा पर रहते हैं। वाहर के पानी की वदौलत ही आज आपके वह सागर लहरा रहे हैं और फूले नहीं समा रहे हैं। किन्तु अगर वर्षा न हो तो वे सूख जाएगे और फिर आपको खारे प्रतीत होने लगेंगे। कोई पशु पक्षी अथवा मनुष्य ।स फटकने का भी नाम न लेगा।

इसी प्रकार जब तक पुण्य की—शुभ कर्मों की वृष्टि हो रही है, तब तक सब पदार्थ ठठें मार रहे हैं, सब की प्रचुरता है और घर सब विभूतियों से भरा पड़ा है किन्तु जब पुण्य की वृष्टि बद हो जाती है, पुण्य का द्वार अवरुद्ध हो जाता है और पूर्वार्जित पुण्य की इतिश्री हो जाती है, तब मनुष्य चारों ओर से नग्न हो जाता है, अभावग्रस्त बन जाता है। उसकी विपत्तियों का पार नहीं रहता और वह अपने आपको असहाय और पगु समझने लगता है।

पुण्य के आगमन का मार्ग कब अवरुद्ध होता है? जब मनुष्य धन में गृद्ध और आसक्त हो कर उस पर अपना आधिपत्य जमा लेता है और उससे चिपक कर बैठ जाता है समझ लीजिए कि उसके पुण्य का स्रोत बद हो गया। सज्जनों। कौन सा ऐसा पुण्यकर्म है जिसका भोगते-भोगते किसी भी काल में क्षय न हो? उत्तर यह है कि ऐसा कोई पुण्य कर्म नहीं। हो सकता है कि बड़े से बड़े पुण्य कर्म को भोगने में अधिक समय लगे और और थोड़ा पुण्य शीघ्र नष्ट हो जाय, किन्तु उसे खत्म तो होना ही पड़ेगा। ससार में कहावत है कि खर्च करते रहने से और नयी आय न होने से बड़े से बड़ा खजाना भी खाली हो जाता है। पानी का स्रोत न आने से सरोवर भी सूख जाता है। कूप तो किस गिनती में है?

सज्जनों। मैं कहने जा रहा था कि जो तालाब हैं, उन्हें भरते भी देर नहीं लगती और सूखते भी देर नहीं लगती वर्षा होती है तो सरोवर और कूप आदि जलाशय लबालब जल से परिपूर्ण हो जाते हैं, नदियों में बाढ़ आ जाती है, और जब वर्षा बद हो जाती है तो सब क्षीण होने लगते हैं और धीरे-धीरे सूख जाते हैं। इसी प्रकार जीव जब पुण्य की क्रियाए करता है। शुभ प्रवृत्तियाँ करता है, वह क्षण भर में भी महान् पुण्य उपार्जन कर लेता है। शालिभद्र जी को पुण्योपार्जन करने में क्या महीना, दो महीना साल या दो साल लगे थे? नहीं, स्वल्प समय में ही उन्होने महान पुण्य उपार्जन कर लिया था, जिनकी ऋद्धि को देख कर मगध के महान् सम्राट् श्रेणिक भी चकित रह गये थे।

एक बार श्रेणिक राजा, शालिभद्र के भवन में आये। उस समय शालिभद्र अपने भवन की सब से ऊंची मंजिल पर सुख भोग रहे थे। राजा को अपने भवन में आया देख शालिभद्र की माता ऊपर जाती है और कहती है—बेटा! जल्दी नीचे आओ। तुम्हारे सिर के नाथ धनी पधारे हैं। अपने नगर के राजा आये हैं। हम उनकी रैयत हैं। हमारा बड़ा भाग्य है कि वे स्वयं पधारे हैं। हमें उनका कृपापात्र बनना चाहिए। आशीर्वाद लेना चाहिए। राजा के सम्बन्ध में माता के यह वचन सुनकर वह पुण्यशाली शालिभद्र, जो सुखों में ही पला था, महलों में ही जिसकी दुनिया केन्द्रित थी जिसे यही पता नहीं था कि राजा क्या बला होती है, कहने लगा—'माता जी, इतनी जल्दी क्या कर रही हो। आया है तो भडार में डलवा दो।'

माता ने कहा—'अरे भोले जीव! ऐसी बात मत कह। राजा सुन लेंगे तो क्या कहेंगे? बेटा, उनकी कृपा हो जाय तो निहाल कर दें, नाराज हो जाए तो कंगाल कर दें, वे तो अपने सिर के छत्र हैं, नाथ हैं।'

सज्जनो! इस 'नाथ' शब्द ने, इस ध्वनि ने शालिभद्र जी के हृदय में उथल-पुथल मचा दी। वह सोचने लगे मेरे सिर पर भी नाथ है। मुझ पर भी कोई हुकूमत करने वाला है। वह अपने आपको सर्वेसर्वा समझे बैठे हुए थे। माता की बात से उनके हृदय को गहरा आघात सा लगा शालिभद्र की समझ में उनसे बड़ा और कोई नहीं था। पर उनका यह भ्रम था। दुनिया में एक से एक बढ़ कर है। कहा है कि—

> कर्मों ने एक से एक को आला बना दिया।
> किसी को दारा तो किसी को सिकन्दर बना दिया॥

अपने से नीचे को देखते चलोगे तो एक से एक नीचा-गरीब नजर आएगा और ऊंची नजर करके देखोगे तो एक से एक ऊंचा दृष्टिगोचर होगा। कर्मों के कारण मनुष्य ऊंचा या सम्पन्न बनता है और कर्मों के कारण ही नीचा अथवा विपन्न बनता है। नदी में पानी जितना-जितना ऊंचा चढ़ता जाता है उसमें

तैरने वाली नौका भी उतनी ही ऊंची होती जाती है । और ज्यों-ज्यों पानी उतरता जाता है । नाव भी नीची होती जाती है । यही बात पुण्य के विषय में है । ज्यों ज्यों पुण्य की वृद्धि होती है मनुष्य यश सौभाग्य ऋद्धि, सिद्धि धन, वैभव आदि से उन्नत हो जाता है । और जैसे भोगते-भोगते पुण्य क्षीण होता है ऋद्धि-सिद्धि आदि भी कम होती जाती है ।

आशय यह है कि कर्मों का उतार-चढाव होता ही रहता है । कर्म किसी को भी ऊचा और किसी को नीचा बना सकते हैं । जो शाही तख्त पर बैठा है क्षण भर में उसी को नीचा गिरा देते हैं जो टुकड़े टुकड़े के लिए गली गली में भटकता फिरता है, उसे तख्त पर बिठला देते हैं । पुरानी बातों को छोड़ दीजिए अभी अभी की ताजा घटना लीजिए काश्मीर का शेख अब्दुल्ला जो शेरे काश्मीर कहलाता था, आज प्रधानमत्री के पद से च्युत होकर नजरबन्दी का जीवन व्यतीत कर रहा है । हमारे और आप के देखते-देखते इस क्रान्तिकारी काल में कितने ही राजा महाराजा राज सिंहासन से भ्रष्ट हो चुके । यह सब कर्मों का प्रभाव है । नहीं कहा जा सकता कि कर्म किस समय क्या रग दिखाएगा ? क्या-क्या गुल खिलाएगा ?

तो शालिभद्र ने जब सुना कि मेरे सिर पर भी कोई नाथ हैं तो उनके दिल में एक भूकम्प-सा आ गया एक प्रकार का जल-जला आ गया । वे माता की आज्ञा का उल्लंघन न कर सकने के कारण नीचे आये, किन्तु बोले—

पूरव पुण्य मैं ना किया, दान सुपात्र न दिया ।
मारे माथे जी फिर भी नाथ कहाया जी ॥

वे मन ही मन इस प्रकार विचार करते हुए राजा की गोदी में बैठ गये और पसीने से तरबतर हो गये । अहा कितना सुकोमल शरीर था उस पुण्यवान का जिसे राजा के शरीर की थोड़ी सी गर्मी भी सहन न हो सकी ? वह सोचते हैं, मै ने पूर्व भव में पूर्ण पुण्य उपार्जन नहीं किया और सुपात्र को दान नहीं

दिया। उसी का फल है कि मेरे सिर पर भी नाथ हैं आखिर उनकी आत्मा बोल उठी —

अब करनी मैं ऐसी करूं, नाथ न होवे म्हारे जी।
कांई नाथज जी नाथ सरीखा हूँ होंऊं जी॥

अब मैं अपनी पिछली कमी की पूर्त्ति करूंगा, ऐसी करणी करूँगा कि मैं स्वय नाथ बन जाऊ और मेरे ऊपर कोई दूसरा नाथ न रहे।

सज्जनो! नाथ या अनाथ बना देने वाली कोई दूसरी शक्ति नहीं। परमात्मा, खुदा, ईश्वर या अन्य कोई निराला पुरुष किसी के भाग्य का निर्माता नहीं। अपने आपको नाथ अथवा अनाथ बनाने वाला स्वयं यह आत्मा ही है। हे भद्र! तू अपनी सृष्टि का आप ही निर्माता है, विधाता है। तू जैसी सृष्टि रचना चाहे वैसी ही रच सकता है। सब कुछ तेरे ही हाथ में है। तू चाहे तो अपने जीवन को सुन्दर से सुन्दर और भव्य से भव्य बना सकता है। तू किसी देव के अधीन या शक्ति के अधीन नहीं है। अपनी सुख-दुख की यह सृष्टि तू ने ही रची है और आगे की सृष्टि इस समय रच रहा है, इस समय तेरे जीवन की जो इमारत निर्मित हो रही है, उसमें तेरी एक-एक क्रिया एक-एक ईंट का काम कर रही है। तू चाहे तो उस इमारत को उत्कृष्ट भी बना सकता है और निकृष्ट भी बना सकता है। अपने मार्ग में फूल भी बिखेर सकता है और शूल भी बिखेर सकता है। जो तुझे हितकर प्रतीत हो, वही कर। मगर सावधान रह। एक-एक क्षण तेरा भविष्य बना रहा है। तू समझ सके अथवा न समझ सके। पर इस वर्तमान पर ही तेरा भविष्य पूरी तरह अवलंबित है।

हा, तो बात यह है कि शालिभद्र जी धन और वैभव की प्रचुरता में भूले हुए थे। समझते थे कि मैं कृतकृत्य हो गया। मगर अब उन्हें होश आया। अब सोचने लगे यहा तो मामला अधूरा है। धन और वैभव में जीवन का च[illegible]र्ष नहीं है। उस वास्तविक उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए मुझे और

कोई उपाय करना पडेगा। ऐसी करनी करनी पडेगी कि मेरे सिर पर कोई नाथ न रह जाय।

सज्जनो! एक छोटी-सी घटना ने शालिभद्र को जागृत कर दिया, मानों झकझोर दिया कि—किसमें भूले हो, जरा वास्तविकता को आंख खोल कर देखो। और वे उसी समय जाग उठे। परन्तु आप अपनी स्थिति पर विचार कीजिए। आप बहुत कुछ सुनते हैं, किन्तु आपके मन पर क्या असर हो रहा है?

असल में असर उन पर होता है, जो पुण्यवान् हैं और उन्हीं का बेड़ा पार लगता है। शालिभद्र जी ऐसे पुण्यशाली थे कि दो अक्षरों के एक ही शब्द ने उनके हृदय में उथल-पुथल मचा दी और सारे जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया। उन्होंने सोचा—जो हो गया सो हो गया, परन्तु अब ऐसा करूंगा कि मेरा कोई नाथ न हो, मैं अपना नाथ स्वयं बनूं। बस, वे चेत गये, जाग उठे, अपने सुन्दर भविष्य का निर्माण करने के लिए कृतसंकल्प हो गये। वे बत्तीस पत्नियों को, छत्तीस प्रकार के भोजन को, अपार धनराशि को और स्वर्गीय सुखों को तिनके की तरह त्याग कर, सब को लात मार कर दीक्षित हो गये और भिक्षुक-जीवन अंगीकार करके, पात्र लेकर घर-घर भिक्षा के लिए अटन करने लगे।

कितना महान् आदर्श है। शालिभद्र जैसा वैभवशाली और सुकुमार पुरुष स्वेच्छापूर्वक भिक्षु बनता है और संयम-जीवन की कठोरतर चर्या अंगीकार करता है। इसे कहते हैं, त्याग। इसे कहते हैं जीवन-निर्माण। यही है आत्मिक कल्याण की साधना का पथ। मोक्ष कोई रसगुल्ला नहीं है कि चट उठाया और मुंह में डाल कर निगल लिया। मोक्ष के लिए कठिन साधना और महान् त्याग की आवश्यकता है। मोह और ममता पर राग और द्वेष पर तथा समस्त सांसारिक आकांक्षाओं और अभिलाषाओं पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। घोर तपश्चर्या का आचरण करना होता है।

मगर इस साधना में वही जुट सकता है जो इस तथ्य को भली भांति विदित कर लेता है कि ससार का यह पौद्गलिक वैभव नाशवान् है, निस्सार है, सच्चे सुख का जनक नहीं, अपितु दुःख का जनक है, पराधीन है, आत्मा के अध पतन का कारण है और पारलौकिक हित का घातक है। जिसे यह प्रतीति हो जाती है कि इस वैभव का अस्तित्व पुण्य कर्म पर टिका है, जब तक पुण्य की पूंजी है तभी तक यह वैभव है। जिस क्षण पुण्य की परिसमाप्ति हो जायगी, वैभव कपूर की तरह उड़ जायगा। अतएव दुनिया का वैभव अमर सुख प्रदान नहीं कर सकता। वह हमें अमरत्व की ओर नहीं ले जा सकता। वह सिद्ध के मार्ग का साधक नहीं है, प्रतिबधक है। इस वैभव से विमुख होने पर ही सच्चे आत्मिक वैभव के सन्मुख होना सभव है इस प्रकार की श्रद्धा जिसके मन में बद्धमूल हो जायगी, वही उसे प्राप्त करने लिए सन्नद्ध होगा।

मगर आज कितने मनुष्य हैं, ऐसे जिन्हें इस सत्य पर प्रतीति हो? साधारणतया आज का मानव भौतिक पदार्थों में ही अपना सौभाग्य समझता है। यह बात नहीं है कि सचाई उसके समाने न आती हो। आये दिन प्रकृति के प्रहार मनुष्य के नेत्र खोलने का प्रयत्न करते हैं, मगर मनुष्य उस सत्य को देख कर भी अनदेखा कर रहा है। कौन नहीं जानता कि जिस पर मानव के सौभाग्य की बिल्डिंग खड़ी है, उसके नष्ट होने में देर नहीं लगती। समाचार-पत्र बतलाते रहते हैं कि अमुक जगह इतनी वृष्टि हुई और इतने मकान गिर गये। क्या उन मकानों में रहने वालों को स्वप्न में भी खयाल था कि ये मकान सहसा ढह जाएँगे और साथ ही हमारी आशाओं का केन्द्र भी धूल में मिल जायगा? इसी प्रकार जब पाप की बाढ आती है तो बनी-बनाई सृष्टि समाप्त हो जाती है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि भौतिक पदार्थों में सौभाग्य समझना बड़ी भूल है और ऐसी भूल है कि जो आत्मा को बेभान बना कर विपरीत मार्ग पर ले जाती है। भौतिक पदार्थों में सौभाग्यशालिता मानना रेत की दीवारों पर इमारत खड़ी करना है। रेत की दीवार प्रथम तो खड़ी ही

न होगी और किसी तरह खड़ी हो गई तो टिक न सकेगी। अतएव ज्ञानी जनों का कथन है कि मनुष्य को शीघ्र से शीघ्र इस भ्रम से मुक्त हो जाना चाहिए कि भौतिक पदार्थ उसका कोई मंगल कर सकते हैं और उनकी प्राप्ति सौभाग्य का चिन्ह है। सच्चा सौभाग्य-शाली कौन हो सकता है ?

सुबह शाम जिसको तेरा ध्यान होगा।
बड़ा भाग्यशाली वो इन्सान होगा।।

जो महाभाग हर समय प्रभु का ध्यान और चिन्तन करता है, जिसकी आत्मा निरन्तर ईश्वरीय गुणों में रमण करती रहती है, वही भाग्यवान् है, वही सौभाग्यशाली है। मनुष्य का यह ध्यान, चिन्तन और मनन ही उसकी सच्ची विभूति है। सच्ची विभूति इसलिए कि वह शाश्वत है और उसे छीनने वाला या लूटने वाला कोई नहीं है। ईश्वर चिन्तन के आधार पर बनाई हुई सौभाग्य की इमारत ऐसी इमारत है जिसे वज्रविनिर्मित कहना चाहिए। उस पर किसी का असर होने वाला नहीं। वर्षा और भूकम्प उसे हिला नहीं सकते। आग उसे जला नहीं सकती। प्रबल से प्रबल आघात भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते।

बाढ़ आती है। देखते-देखते हजारों मकान धराशायी हो जाते हैं और जल में विलीन हो जाते हैं। उस समय कोई-कोई कहते हैं—अभी मेरी इमारत को कुछ क्षति नहीं पहुँची है। यह तो गिरने वालों की गिर रही हैं। किन्तु भैया, वह घड़ी दूर नहीं जब तेरा भी नम्बर आ जायगा। किन्तु जो भव्य प्राणी भौतिक भवनों के प्रलोभन में नहीं लुभाते और ईश्वर चिन्तन रूपी अमिट बिल्डिंग में ही निवास करते हैं, वह सदैव निश्चिन्त रहते हैं। उन्हें कोई भय नहीं। कभी किसी से कोई खतरा नहीं।

उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्ययन में मिथिला के राजा नमि का वृत्तान्त आया है। ससार में विरक्त होकर वे साधु हो जाते हैं। अपनी रानियों को और समस्त राजसी वैभव को छोड़ देते हैं। अशोक वाटिका में जाकर आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं। इन्द्र ब्राह्मण का रूप बना कर उन राजर्षि की परीक्षा लेने

आये। इन्द्र ने अनेक प्रश्न किये और ऐसे प्रश्न किये कि साधारण मनुष्य उन में उलझ जाय और विचलित हो जाय। उन अनेक प्रश्नों में से एक प्रश्न प्रासाद विषयक भी था। इन्द्र ने सोचा कि देखूँ तो सही कि ये ध्यान में तो बैठे हैं, किन्तु राजकीय प्रासादों से इनकी ममता हटी है या नहीं? यह बाहर से त्यागी हैं या अन्दर से भी? इन्हें कोई नयी इमारत बनाने की तो इच्छा शेष नहीं रह गई है? यह सोच कर इन्द्र बोले—आप साधु बने सो तो अच्छा ही किया, परन्तु ऐसा करने से पहले एक काम तो कर लेते—

पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाण गिहाणि य।
बालग्गा पोइया ओ य, तओ गच्छसि खत्तिया॥

ऐ क्षत्रिय राजर्षि! तुम्हें जो काम पहले करना था, वह पहले ही करना चाहिए था। उसे करने के बाद दीक्षा लेते तो अच्छा होता। मगर तुमने उस कर्त्तव्य कार्य को पीछे छोड़ दिया और जल्दी ही साधुवृत्ति मे कूद पड़े। यह उचित नहीं है। तुम्हें पहले बड़े-बड़े प्रासाद-महल-भवन बनाने चाहिए थे, गगन चुम्बी इमारतें खड़ी करनी चाहिए थी, और बाद में साधु बनना चाहिए था।

इन्द्र के इस प्रकार कहने पर राजर्षि नमि कहते हैं—बात तो ठीक है तुम्हारी। रहने को कोई स्थान तो होना ही चाहिए। मैं यह स्वीकार करता हूं, किन्तु क्या करूं? मैं मकान बनवाते-बनवाते हताश और निराश हो गया हूं, थक चुका हूं। जन्म-जन्म में मैंने मकान बनवाये। बड़े परिश्रम से मकान तैयार हुए, किन्तु खेद है कि कभी तो वे मकान मुझे छोड़ कर चले गए अर्थात् नष्ट हो गए और कभी मैं उन्हें छोड़ कर चल दिया। मकानों ने मुझे छोड़ा तो मैं रोता रह गया और जब मैं मकान छोड़कर चला तो मकान खड़े-खड़े मेरा उपहास करने लगे।

सज्जनो! आपने समाचार पत्रों में पढ़ा होगा कि क्वेटा में जब भूकम्प आया तो चालीस हजार आदमी जमीन में धंस गये। इतनी लाशें तो जमीन

में से निकाली गई थीं, जो न निकल सकीं, उनकी कोई गिनती नहीं हो सकी। इसी प्रकार अभी कुछ समय पहले कच्छ में भूकम्प आया था। उसमें सौ से अधिक आदमी मकानों में दब कर मर गए। अनेकों मकान नष्ट हो गये।

तो संसार में इस प्रकार के उतार-चढाव आते ही रहते हैं। प्रकृति का प्रकोप बड़ा ही जबर्दस्त होता है। लोग कहते हैं कि वैज्ञानिकों ने प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित कर लिया है, परन्तु ऐसा कहने वालों की नादानी को प्रकट करने के लिए इस प्रकार की घटनाएं ही पर्याप्त प्रमाण हैं।

वास्तव में यह ससार बड़ा विषम है। यहा कहीं सुख है तो कहीं दु ख है। इसी का नाम दुनिया है।

> दुनिया दुरंगी मुकर्रे सराय,
> कहीं खैर खूबी कहीं हाय हाय।

यह दुनिया सराय के समान है। यहा पथिक आते हैं, थोड़ी देर विश्राम लेते हैं और अपने गन्तव्य स्थान की ओर चल देते हैं। यहा नाना प्रकार के दृश्य सदैव दिखाई देते हैं। कोई हँस रहा है तो कोई रो रहा है। ठीक ही कहा है —

> काहू घर पुत्र जायो काहू के वियोग आयो,
> कहूँ राग-रंग कहूँ रोया रोई परी है।

पुण्यवान् हँस रहे हैं और पापी रो रहे हैं। यह ससार की असली स्थिति है। इस स्थिति को देखते हुए कौन विवेकवान् ऐसा होगा जो इस संसार में फस कर अपने अमूल्य जीवन को बर्बाद करना चाहेगा।

तो नमि राजर्षि इन्द्र से कह रहे हैं—हे बन्धु! मैंने अतीत अनन्त जन्मों में एक नहीं, अनन्त मकान बनवाये हैं। और फिर एक प्रकार के नहीं, दो-दो प्रकार के बनवाये हैं। एक तो शरीर रूपी मकान बनवाया जो उस भव में साथ रहा। जाते ही पहले-पहल यही काम किया। प्रथम समय में ही

माता के उदर में आहार लिया। आखिर आहार अनिवार्य वस्तु है। काम करने वालों को वह लेना ही पड़ता है। प्रकृति ने मुझे यह विचार और प्रेरणा दी कि आहार लो। और फिर ठहरने के लिए शरीर रूपी मकान बनाया। मैं ने जो आहार लिया था, उसका कुछ भाग शरीर बनाने में खर्च किया। इसी प्रकार जहा भी गया, शरीर रूपी मकान सभी जगह बनाया। कभी छोटा और कभी बड़ा बनाया। सज्जनो! भोजन खा-खा कर मलाई खा-खा कर और दूध पी-पी कर, व्याघात न हो तो जीव छहों दिशाओं से आहार लेता है। अगर जीव लोक के मध्य में हो तो आहार लेने में व्याघात नहीं होता। लोकान्त में उत्पन्न हो तो ३-४-५-६ दिशाओं से आहार लेता है।

नमि राजर्षि कहते हैं—इस शरीर रूपी मकान के बनाने में मुझे बहुत समय लगा, किन्तु जब कालूराम जी पधारे काल-चन्द्र का आगमन हुआ तो इसके नष्ट होने में क्षण भर की भी देरी नहीं लगी। इस प्रकार मैं एक नहीं, अनेक शरीर बना चुका हूं। शरीरों का हिसाब लगाने के लिए किसी मुनीम,जी को बिठला दिया जाय तो समस्त समुद्रों के जल की स्याही और सम्पूर्ण पृथ्वी का कागज बना लेने पर भी उस सख्या की गिनती नहीं हो सकेगी। अन्त में उन सब का परित्याग करना पड़ा। किसी किरायेदारसे कोई मकान खाली करवाया जाता है, तो उसे नोटिस देना पड़ता है, मगर इस शरीर रूपी मकान को खाली करने के लिए तो कोई नोटिस भी नहीं मिला। नोटिस भी जाने दीजिए, एक समय की मोहलत नहीं मिली। यहाँ तो सिफारिश और रिश्वत से भी काम बन जाता है, परन्तु वहा इनसे भी काम नहीं चला। उस हुक्म को रद्द करने वाला कोई नहीं मिला। इस प्रकार मैंने दोहरे मकान बनवाये—एक तो चलता-फिरता शरीर रूपी मकान और दूसरा शरीर सहित रहने के लिए ईट-पत्थर आदि का मकान। मगर दोनों में से कोई भी न रहा। उन सब को छोड़ना पड़ा। इस कारण मैं हताश हो गया हूं। आखिर कहा तक मकान बनवाऊ और कितने

वनवाऊ! अव मेरी यह अभिलाषा हुई है कि ऐसी जगह प्राप्त करू जहा मकान की आवश्यकता ही न हो। जहा वाढ, भूकम्प और तूफान न आ सकें और मुझे वार-वार इधर-से-उधर भागना न पड़े। मैने अव ऐसे भवन का प्रवन्ध कर लिया है कि जहा जाना तो हो, मगर वापिस आना न हो। मैंने ऐसा मकान खोज लिया है। वह खूब सुदृढ़ है—उसके गिरने पड़ने की कोई सभावना नहीं है।

राजर्षि आगे कहते हैं – मुझे अब रास्ते के लिए भी मकान की आवश्यकता नहीं है। जिसे रास्ते मे ठहरना हो, वही मकान वनवाने का विचार करता है। मेरी स्पेशियल गाड़ी यहा से छूटने के वाद वीच में किसी स्टेशन पर नहीं रुकेगी और एक ही समय में मोक्ष रूपी जकशन पर पहुंचा देगी। वह जकशन ऐसा है कि सवारिया वहा जाती तो हैं, मगर वापिस नहीं आतीं। उन्हें वापिस लाने के लिए कोई गाड़ी ही नहीं है। शिवपुरी नगरी ऐसी अद्वितीय और निराली है कि उसकी उपमा किसी से भी नहीं दी जा सकती। वहा की छटा अलौकिक है। कितनी ही सवारिया वहा पहुच गई और पहुंचती ही रहती हैं, मगर उसके सौन्दर्य – दर्शन-ज्ञान – में ऐसी लीन हो जाती हैं कि वहा से वापिस लौटने का नाम नहीं लेतीं। लौटने की आवश्यकता ही उन्हें नहीं होती। लोटें तो क्यों लोटें, वहा अनन्त सुख है और अनन्त अव्यावाध हैं। अनन्त आत्माए इस ढग से विराजमान हैं कि अलहदा की अलहदा और एक की एक। वहा के निवासी सम्पूर्ण विश्व के समस्त पदार्थों को अनन्त ज्ञान से जानते हैं और अनन्त दर्शन से देखते हैं। उनके रहने-अवगाहन के विषय में कहा गया है—

एक माहि अनेक राजे, अनेक मांही एक्कम्।
इक अनेकन की नहीं संख्या, नमो सिद्ध निरजनम्।

शिवपुरी में निवास करने वाली आत्माएं कैसी हैं? वे अपने आत्मतत्त्व से आत्मद्रव्य से और अपने व्यक्तित्व से भिन्न-भिन्न हैं। उन सव की पृथक्-

पृथक् सत्ता है। ऐसा नहीं है कि वहां पहुंचने के बाद उनका अपना विशिष्ट अस्तित्व नष्ट हो जाता हो और वे किसी दूसरी विराट सत्ता में—परमात्मा में—विलीन हो जाती हों।

कई लोगों का ख्याल है कि आत्मा जब मोक्ष में जाती है तो वह परमात्मा में मिल जाती है और फिर उसका पृथक् अस्तित्व खत्म हो जाता है। उसकी अपनी हस्ती कायम नहीं रहती। किन्तु वास्तव में मोक्ष ऐसा नहीं। ऐसे मोक्ष को तो दूर से नमस्कार! हमें ऐसा मोक्ष नहीं चाहिए कि जिसमें हम अपना अस्तित्व ही गवा बैठें। जब हमारा अस्तित्व ही न रहा तो मोक्ष के आनन्द का उपभोग कौन करेगा? अतएव जैनधर्म ऐसे मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। उसकी मान्यता ऐसी है कि जिस आत्मा को मोक्ष प्राप्त होगा उसका अपना व्यक्तिगत अस्तित्व भी कायम रहेगा। उसकी अपनी इकाई मिट नहीं सकती। वह ज्यों की त्यों कायम रहने वाली है। ससार में तुच्छ से तुच्छ समझी जाने वाली वस्तु की भी सत्ता का लोप नहीं हो सकता, रूपान्तर होने पर भी कोई वस्तु कभी सर्वथा नष्ट नहीं हो सकती, तो आत्मा की सत्ता कैसे मिट सकती है?

मुक्तात्मा स्वतन्त्र रूप में कायम रहता है और अनन्त आत्मिक सुख का उपभोग करता रहता है। अनन्त काल तक उसकी यही स्थिति कायम रहने वाली है। हाँ, यह बात अवश्य होती है कि जैसे पानी में पानी मिल जाता है, प्रकाश में प्रकाश मिल जाता है, उसी प्रकार सिद्ध आत्माए परस्पर एक दूसरे में मिल कर रहती हैं।

और मिल कर तो रहना ही चाहिए। मिल कर रहने का पाठ हमें सीखना चाहिए। संसार में आज जो गड़बड़ और द्वन्द्व मच रहा है अथवा क्लेश हो रहा है, उसका प्रधान कारण यही है कि लोग आपस में मिल-जुल कर रहना नहीं जानते। सब लोग मिलकर रहना सीख लें तो भारत-सरकार को भारतवर्ष के प्रान्तों की इकाइया सगठित करने में आज जो दिक्कत उठानी पड़ रही है,

वह क्यों उठानी पडे ? लोगों का हृदय यदि विशाल हो तो यह प्रश्न इतना तूल ही क्यों पकडे ? फिर तो वह शीघ्रातिशीघ्र सरलतापूर्वक हल हो सकता है, मगर लोगों में इतनी उदारता कहा ?

आपने सुना ही होगा कि पहले बम्बई में गोली चली। महाराष्ट्रीयों ने कहा—बम्बई का पृथक्करण हम नहीं चाहते। उसे महाराष्ट्र में सम्मिलित करना चाहिए। इसके लिए उच्छृखल प्रदर्शन हुए और हिंसात्मक कार्रवाइया की गई। तब पुलिस को गोली चलानी पड़ी। सैकड़ों मरे या घायल हुए। फिर भी द्वन्द्व शान्त नहीं हुआ। उधर वित्तमंत्री के त्यागपत्र देने से हालत और बिगड़ गई। इससे प्रान्तीयता को बढावा मिला। जो लोग शासन के पुर्जे बने हैं और शासन में महत्वपूर्ण स्थिति में हैं, उनमें प्रान्तीयता का संकीर्ण भाव रहना बडे खतरे की बात है। जो शासनसूत्र को सचालित करने वाले हैं, राज्य को संगठित करने वाले हैं, उनही में प्रान्तीय भावना हो और वही लोग जब समग्र राष्ट्र की भलाई की व्यापक भावना से विचार न करें तो देश को बड़ी क्षति पहुच सकती है।

सज्जनो! राजकीय पुरुषों में प्रान्तीयता की मनोवृत्ति होना घातक नीति है। एक तरफ वे राजकीय पुरुष होने का दावा करें और दूसरी तरफ राज्य की नींव को ही खोखला करने का प्रयास करें तो यह विरोधपूर्ण नीति खतरे से खाली नहीं है। जिस नाव पर आप सवार हैं, उसी के पाटिये उखाड़ने की कोशिश करने का अर्थ क्या है? ऐसी नाव कहा तक आपको सकुशल ले जा सकेगी? तो ऐसे सज्जनों से देश की भलाई होने वाली नहीं।

महाराष्ट्र और गुजरात को मिलाकर एक द्विभाषाई राज्य बना दिया गया तो उसके परिणामस्वरूप अहमदाबाद में दंगा हो गया।

सज्जनो! हमें तो यह विचार करना है कि आखिर इस प्रकार के झगड़ों का कारण क्या है? इन झगड़ों के पीछे जनता की कौन-सी मनोभावना काम

करती है ? विचार करने पर विदित होता है कि लोगों ने मिल कर रहना नहीं सीखा है। संकीर्णता और स्वार्थपरायणता मनुष्य को विराट चिन्तन से रोकती है। जहाँ अपने ही राष्ट्र के प्रति ममता नहीं, एक प्रान्त वाला दूसरे प्रान्त वालों को पराया समझता है, वहां सामग्र विश्व के प्रति बन्धुता का भाव किस प्रकार उदित हो सकता है ? और ऐसा हुए विना किस तरह संसार में स्थायी शान्ति की प्रतिष्ठा हो सकती है ?

प्रान्तों का पुनर्गठन शासन की सुविधा की दृष्टि से किया जा रहा है। इसका यह अर्थ तो नहीं है कि किसी प्रान्त को संकट में डाला जायगा। कहीं अनाज ज्यादा होता है और कहीं कम होता है। तो क्या केन्द्रीय सरकार यह सहन करेगी कि एक प्रान्त में अनाज पड़ा-पड़ा सड़ता रहे और दूसरे प्रान्त के निवासी भूखों मर जाए ? नहीं, ऐसा होने वाला नहीं है। इसी के लिए तो केन्द्रीय सरकार है। फिर लोग क्यों दंगा-फसाद करने पर उतारू हैं ? वास्तव में जिन में स्वार्थ भावना की अधिकता है, जिनमें समदृष्टि नहीं है अथवा जो इस बहाने अपने राजनीतिक स्वर्थ सिद्ध करना चाहते हैं, वही अशान्ति उत्पन्न करते हैं और जनता को गलत राह पर ले जाते हैं। वे देश की शान्ति को भंग करते हैं।

तो मैं यह कह रहा था कि हमें मिल-जुल कर रहना सीखना पड़ेगा। इसके विना शान्ति और सुख का अनुभव नहीं किया जा सकता। सिद्धात्माओं से हमें यह शिक्षा मिलती है। सिद्धात्मा व्यक्तिगत रूप से पृथक्-पृथक् भी हैं और प्रदेशों की व्यापक-वृत्ति से एकमेक भी हो रहे हैं। आकाश के जिस प्रदेश में एक सिद्ध आत्मा का प्रदेश है, उसी में अनन्त सिद्ध आत्माओं के एक-एक प्रदेश हैं। इस प्रकार अनन्त आत्माओं के प्रदेश एक ही जगह समाये हुए हैं। उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

भाइयो! हमें भी ऐसी कामना करनी चाहिए कि वह एकीकरण की

 कब प्राप्त हो ? मगर केवल कामना करने से ही उस उत्कृष्ट अवस्था

की प्राप्ति नहीं होगी। पहले यहा उसकी ट्रेनिंग ले ली जायगी, तभी वह स्थिति प्राप्त होगी। जो लोग यहा तोड़-फोड़ में लगे हैं, जिन्हें मिलने के बदले बिछुड़ने मे ही अधिक आनन्द आता है, जो दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें मिल-जुल कर रहने की सिद्धों की वह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती वे भटकते ही फिरेंगे।

सज्जनों! सबसे मिल कर रहो सबसे प्रेम करो। दृष्टि में उदारता और विशालता लाओ। देखो—

सब से अधिक नेम है, नेम से अधिक प्रेम।
जा घर नेम न प्रेम है, ता घर कुशल न क्षेम ॥

सबसे बड़ी बात तो यह है कि आत्मा मे त्याग होना चाहिए। यदि कोई चीज जीवन में जागृति उत्पन्न करने वाली है, जीवन को चमकाने वाली और उठाने वाली शक्ति है, तो वह नियम है। कुछ न कुछ प्रतिज्ञा होनी ही चाहिए। इस आत्मा पर पापों का जो बोझ लदा है, वह सारा का सारा उतार कर फेंक दिया जाय तो बहुत ही उत्तम है। ऐसा करते ना बने तो जितना फेंको उतना ही अच्छा है, मगर वस्तु स्थिति यह है कि आज लोग पापों की उस गठरी को अधिक से अधिक भारी बनाने में संलग्न हैं। कहा है—

मत बाधे गठरिया अपजस की। टेर।
कूट कपट कर माया जोड़ी, कुमत-गांठ कैसे होवे हलकी।
आ यमदूत पकडे ले जावें, लेंगे खबर तेरी नस नस की ॥

सज्जनो। यह अपयश की—पाप की गठरी सिरपर क्यों बाध रहे हो और आत्मा को भारी क्यों बना रहे हो? गुरु महाराज चेतावनी दे रहे हैं—ऐ प्राणी! मनुष्य जन्म पाया है तो पाप की गठरी को हल्की करने का यही समय है, यही सुअवसर है। ज्यों-ज्यों कम्बली भीगती जाती है, भारी होती जाती है। ज्यो-ज्यों निन्दा-चुगली कर रहे हो, त्यों-त्यों आत्मा को भारी बना रहे हो। परन्तु याद रखना, आखिर इस कम्बली को उठाना मुश्किल हो जायगा। जो वस्तु

भारी होती है, वह नीचे जाती है, ऊपर नहीं जाती। छोटी-सी ककरी ऊपर फेंकते हो किन्तु वह भी नीचे जाती है और रुई का पेलू फेंकते हो तो ऊपर जाता है। आप देखते ही हैं, अग्नि की ज्वाला जब भी जायगी तो ऊपर को ही जायगी, क्योंकि उसका स्वभाव ऊपर ही जाने का है। इसी प्रकार यदि आत्मामें जीवन ज्योति जल रही है तो वह ऊपर जाने वाली है और यदि पाप ने आत्मा को भारी बना दिया है तो उसका नीचे जाना निश्चित है।

तो सज्जनो। यह समय आत्मा को हल्का करने का है। अतएव अधिक कुछ न बन पड़े तो कम से कम किसी की निन्दा करके आत्मा को भारी तो मत बनाओ। अरे, कम से कम मूल पूंजी को तो बनाये रक्खो।

अगर आपको अपनी आत्मा हल्की बनानी है, ऊर्ध्वगामिनी शक्ति प्राप्त करना है और जीवन-ज्योति जगानी है तो नियम अंगीकार करना चाहिए। नियम एक पवित्र गुण है और आत्मा की पवित्रता की कसौटी है। अतएव जीवन में नियम होना ही चाहिए। अगर आप झूठ, चोरी, हिंसा, चुगली, निन्दा, रिश्वतखोरी, चोर बाजारी, पर के प्रति दुर्भावना, द्वेष, ईर्ष्या आदि को छोड़ सकें तो आपके लिए अत्यन्त हितकर होगा।

भाइयो! नियम आपके जीवन को व्यवस्थित, संयत और नियन्त्रित करने वाली वस्तु है। वह आप में धैर्य, साहस और दृढता उत्पन्न करेगा। जब आप अध पतन की ओर जाने लगेंगे तो वह सहारा देकर आपको बचाएगा। आपके चंचल मन को स्थिर करेगा। इसलिए नियम को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है।

तो सबसे ऊचा स्थान नियम का है, परन्तु प्रेम का दर्जा नियम से भी ऊंचा है। ऐसा मत सोचना कि महाराज का नाम 'प्रेम चद' है, अतएव प्रेम को नियम से भी ऊचा बता रहे हैं। भाई, यह तो नाम है, संज्ञा है। इस के प्रति मेरा कोई मोह नहीं है।

तो नियम से ऊंचा प्रेम है। आखिर नियम को अंगीकार कौन करेगा? और अगीकार करके कौन उसे निभाएगा? जिसे नियम से प्रेम होगा, वही नियम स्वीकार करेगा। बिना प्रेम के, प्रथम तो मनुष्य नियम को अंगीकार ही नहीं करता और यदि लोक लाज से, दबाव से, जबर्दस्ती से अथवा प्रतिष्ठा के विचार से किसी ने अगीकार कर लिया और उस नियम के प्रति अन्तःकरण में सच्चा प्रेम न हुआ तो वह निभ नहीं सकेगा। कोई भी नियम न लेना बुरा है, पर नियम लेकर उसका पालन न करना और भी बुरा है। प्रतिज्ञा भंग महान् पातक है। इस प्रकार नियम के लिए प्रेम की अनिवार्य आवश्यकता है। जिसके चित्त में नियम के प्रति प्रेम है, उसका जीवन भी धन्य है।

प्रेम के विना जीवन ही क्या है। जिस दीपक में स्नेह (तेल) नहीं, वह दीपक भी किस काम का? तेल के अभाव में बत्ती चाहे जितनी बड़ी हो, मोटी हो, चाहे दो गज लम्बी ही क्यों न हो, वृथा है। दिया सलाई दिखाई नहीं कि क्षण भर में सारी की सारी जल कर राख हो जायगी। इसके विपरीत, बत्ती भले छोटी-सी क्यों न हो, यदि वह तेल से सनी हुई है और दीपक के साथ जुड़ी हुई है तो वह अपने आसपास में आलोक का प्रसार करेगी और दीपक की शान भी बढ़ाएगी।

हा, तो मैं कह रहा था कि प्रेम का दर्जा ऊचा है। जिस जाति, समाज और राष्ट्र रूपी दीपक में प्रेम रूपी तेल होता है, उस जाति, समाज और राष्ट्र की ज्योति चिरकाल तक ज्वलन्त रहती है। वह आप भी आलोकित होती है और दूसरों को उद्भासित करती है। जिस राष्ट्र, परिवार या कुटुम्ब में प्रेम है, जिनके जीवन रूपी दीपक में प्रेम रूपी तेल है, वह जाति, परिवार या कुटुम्ब जल्दी खत्म होने वाला नहीं है। बल्कि वह भूले भटके मुसाफिरों को रोशनी दिखाने वाला होता है। इसके विरुद्ध, जहा प्रेम नहीं, वहा विनाश है।

रावण कितना प्रतापी राजा था? उसने अपने समय में बड़ी धाक जमा ली थी। उसकी प्रचण्ड शक्ति के सामने कितने ही वीर नृपति गण नतमस्तक

होते थे। कहते हैं, सोने की लंका उसकी राजधानी थी। मगर जब उसके घर में फूट पड़ी तो नतीजा क्या निकला ? सोने की लंका भस्म हो गई। रावण को न केवल अपने राज्य से ही, वरन् जीवन से भी हाथ धोना पड़ा। उस के परिवार का सत्यानाश हो गया। आज रावण के वंश का खोजने पर भी कोई पता नहीं मिलता। जिस राष्ट्र,समाज या जाति में प्रेम रूपी सूर्य ही नहीं है, वहां शान्ति रूपी प्रकाश के दर्शन करना चाहोगे तो कैसे हो सकेंगे ? वहां तो द्वेष, ईर्ष्या और फूट का अंधकार ही छाया रहता है। बड़े बड़े सुदृढ समझे जाने वाले शासन इस द्वेष-दावानल में भस्मीभूत हो गये।

सज्जनो! इसीलिए मैं कहता हूँ कि जीवन में नियम के साथ प्रेम भी होना चाहिए। अतएव गठरी बांधनी हो तो नियम की बांधो। आप लोग इस लोक के लिए तो बहुत कुछ करते हो, कुछ परलोक के लिए भी कर लो। यहां बड़ी-बड़ी हवेलियाँ चुन रहे हो, तो परलोक के लिए भी मकान का ख्याल कर लो। आखिर तो परलोक के लिए प्रयाण करना ही होगा। सदैव यहां रह नहीं सकोगे। आज तक कोई स्थायी रहा नहीं तो आप ही कैसे रह सकोगे ?

सज्जनो। नमि राजर्षि के सामने इन्द्र महाराज ने यही प्रश्न रक्खा था। तब मुनि ने कहा था—मकान बनाते-बनाते मैं तो थक गया हूं। मैंने एक जन्म में नहीं, अनेक जन्मों में मकान बनाये और बनवाये और पानी की तरह पैसा बहाया, किन्तु अन्ततः सभी बिछुड़ गये। किसी ने साथ नहीं दिया। जब इस काया रूपी मकान ने भी साथ न दिया तो ईंट-चूना और पत्थर के मकान से क्या आशा की जा सकती है ? नमि राजर्षि कहते हैं —

संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गन्तु मिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं॥

जिसे रास्ते में विश्राम लेना हो, वही वहा मकान बनवा वे। मुझे अब मार्ग में विश्राम नहीं करना है। मेरी गाड़ी यहा से जो छूटेगी तो सीधी वहीं जाकर रुकेगी, जहा मुझे पहुंचना है। मोक्ष नगर में ही सीधी जाएगी।

भाइयो। उन महापुरुषों को अपनी साधना पर विश्वास था। उन्हें अपनी आत्मा का भरोसा था। वे अपनी शक्तियों से भली भाति अभिज्ञ थे। इसी कारण नमिराज जी ने कहा—जिस जीव को यह सशय हो कि मैं वहा पहुंच सकू गा या नहीं वह रास्ते के लिए मकान बनवावे, किन्तु मुझे सशय नहीं है। मैं जहा जाना चाहता हूँ, वह शाश्वत स्थान है और वह कभी गिरने-पड़ने या विध्वस्त होने वाला नहीं है। वह लोक के अग्रभाग पर स्थित है। वहा आकाश ही मकान है। मकान टूट फूट जाता है,मगर आकाश का कभी कुछ बिगड़ने वाला नहीं। मुक्तात्माए वहीं स्थित हैं। उनका वहा जाना है पर लौट कर आना नहीं है। लौट कर आना होता तो भी मकान बनवाने की सोचते, मगर जब लौटना ही नहीं तो क्या करना है मकान बनवा कर।

यह है महान् सकल्प और प्रगाढ़ श्रद्धान। महा पुरुषों के मन में ऐसी सुदृढ़ श्रद्धा और प्रतीत होती है, जो सम्यक्त्व के अभाव में कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती। आत्मा, लोक परलोक और मुक्ति के विषय मे इस प्रकार का अविचल श्रद्धान सम्यक्त्व की अचूक कसौटी है। जिस दिन आप का जीवन ऐसा श्रद्धामय हो जायगा। उस दिन आपको भी सम्यग्दृष्टि होने का दावा करने का अधिकार होगा।

हा, नमि ने इन्द्र को जो उत्तर दिया, उससे इन्द्र के कान खुल गये। वह सोचने लगा—यह तो पक्के बाबा हैं। जैसा सोचता था, वैसे ही निकले। यहा मेरी दाल नहीं गलने की।

वास्तव में पक्के आदमी के सामने कच्चे आदमी का आख मिलाना भी कठिन है।

तो मैं कह रहा था कि आज आप बड़ी-बड़ी हवेलियां खड़ी करके इतराते हो और अहंकार से फूले नहीं समाते, किन्तु सज्जनों! उस नाशशील इमारत को नष्ट भ्रष्ट होते देर नहीं लगेगी। सच्ची सौभाग्यसूचक बिल्डिंग कौन-सी है? एक पद्य के रूप में सुनिए :—

सुबह शाम जिसको तेरा ध्यान होगा
बड़ा भाग्यशाली वह इन्सान होगा।
उसी को तो हरदम लगन तेरी होगी,
है जिसका कि सुकृत उदयमान होगा॥

सज्जनो! इस संसार में वही जीव भाग्यवान और पुण्यवान् होगा, जिसे ईश्वरीय चिन्तन रूपी कुबेर की निधि मिल गई है। जिसने अपने अन्तरतम में भगवान् को विराजमान किया है, या यों कहिए कि जिसने अन्तरतम में विराजमान परमात्म-देव का साक्षात्कार किया है, उससे बढ कर जगत् में कोई पुण्यशाली नहीं है। जो तन धन और यौवन में पुण्यवानी मानते हैं, वे भूलते हैं, धोखा खा रहे हैं। पुण्यवान् पुरुष वही है जो प्रातःकाल और संध्याकाल अरिहंत प्रभु का नाम लेता है उनका गुणगान करता है उनके साथ अपनी आत्मा को जोड़ता है और तादात्म्य स्थापित करता है। ऐसा पुण्यवान् पुरुष संसार के धंधे करता हुआ भी निरन्तर परमात्मा का स्मरण करता है। क्षण भर के लिए लिए भी भगवान् को नहीं भूलता। उसकी लौ भगवान् में ही लगी रहती है।

भाइयो! जिसने प्रबल पुण्य संचित किया है, उसी को यह महान् उच्च स्थिति प्राप्त होती है। अगर आप सच्चे पुण्यशाली बनना चाहते हैं, तो सर्व प्रथम अपनी दृष्टि में संशोधन कीजिए। तत्व के रूप को यथावत् जान कर उसपर श्रद्धान कीजिए। जब तक आपके विचार संशुद्ध नहीं हुए तब तक आप सही राह पर नहीं चल पाएंगे। विचारों का वह संशोधन और दृष्टि की [illegible] ही सम्यक्त्व का रूप है। उसे प्राप्त किये बिना सब व्यर्थ है। इसी

कारण मैं पुन पुन· सम्यक्त्व की ओर आपका ध्यान आकर्षित करता हू। जो सम्यक्त्वधारी होंगे, उन्हीं को पुण्यतत्त्व और पाप तत्त्व का यथार्थ ज्ञान होगा। सम्यक्त्व के अभाव में लोग पाप को पुण्य और पुण्य को पाप समझ लेते हैं और विपरीत प्रवृत्ति करने लगते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त कर जो प्रभु का ध्यान करेंगे, वे अमरत्व की प्राप्ति करेंगे।

ब्यावर
११-७-५६

— ० —

४

तीन वीर्य

वीर' सवसुरासुरेन्द्रमहितो, वीर बुधा संश्रिता ।
वीरेणाभिहत स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम
वीरात्तीर्थमिद प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचय हे वीर । भद्र' दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता.,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायका
श्री सिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्नत्रयाराधका'
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिन कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित भद्रपुरुषो तथा वहिनो यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि जगत् की सभी जीवात्माए अपने जीवन को आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण और आनन्दमय देखना चाहती हैं। संसार मे एक भी प्राणी आप न पायेंगे जो अपने आपको आनन्दमय न देखना चाहे। इस सत्य को सिद्ध करने के लिए किसी की सम्मति लेने की आवश्यकता नहीं, पण्डितों को बुलाने की जरूरत नहीं और पोथियों के पन्ने पलटने की भी आवश्यकता नहीं है। यह ऐसा सत्य है कि

इसमें मतभेद अथवा विवाद को कोई अवकाश नहीं है। सब अपने-अपने अनुभव से ही इसे जानते है।

सभी प्राणियों को क्यों आनन्द की आकाक्षा रहती है? इस का उत्तर यह है कि आनन्द आत्मा का गुण है, स्वभाव है। वाह्य वस्तुओं से प्रभावित हो कर आत्मा भले ही अपने निजस्वरूप को न समझ सके। और विभाव में परिणत हो रहा हो, फिर भी अनजान रूप में भी,वह अपने असली स्वभाव की ओर ही आकृष्ट होता है। नीतिकार कहते है —

अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि तिष्टति।

अर्थात् सब गर्णो को लाघ करके स्वभाव सर्वोपरि होकर रहता है। जिसका जो स्वभाव है वह समूल नष्ट नहीं हो सकता। वाहर के प्रभाव से वह दव सकता है विकृत हो सकता है किन्तु नष्ट नहीं होता। 'स्वभावो दुरतिक्रम' अर्थात् कोई भी वस्तु अपने स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करती। इस कथन के अनुसार क्योंकि आनन्द आत्मा का स्वरूप है, अतएव उसको प्राप्त करने की आत्मा में सहज प्रेरणा वनी ही रहती है।

प्रश्न यह हो सकता है कि जव आनन्द आत्मा का स्वभाव है और प्राणी मात्र में उसे प्राप्त करने की लालसा भी जगी रहती है तो फिर उसकी प्राप्ति सव को क्यों नहीं होती? वह आनन्द मिल क्यों नहीं रहा है?

विचार करने से प्रतीत होगा कि आनन्द प्राप्ति की अभिलाषा होना एक वात है और उसे प्राप्त करने के लिए साधना करना उसकी सामग्री जुटाना दूसरी वात है। किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए आकाक्षा कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। आकाक्षा कर लेने मात्र से ही इष्ट सिद्धि होने लग जाय तो दुनिया मे कौन दुखी और दरिद्र दिखाई दे? इच्छा की और इच्छित वस्तु सामने आ गई। यह तो वहुत ही सरल नुस्खा होगा। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। इच्छा के साथ प्रवृत्ति, उद्योग, पुरुषार्थ और साधना भी होनी चाहिए।

तो हमारा जीवन प्रेक्टिकल होना चाहिए, अमली होना चाहिए या कर्त्तव्य निष्ठ होना चाहिए। हम जिसे चाहते हैं, जो हमारा इष्ट है, उसे प्राप्त करने के लिए हमें अपनी समग्र शक्तियों के साथ, तन से, मन से, और धन से जुट जाना होगा। कटिबद्ध होकर प्रयत्न किए बिना इष्ट सिद्धि की संभावना नहीं की जा सकती।

धन आदि भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए मनुष्य किस प्रकार आकाश पाताल एक कर रहा है, किस तरह हाथ धोकर पीछे पड़ा है, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। लोग उन पदार्थों के पीछे खाना पीना और आराम लेना भी भूल जाते हैं। इतनी संलग्नता, तन्मयता,और जागरूकता रखने पर ही सफलता मिलती है। अगर आप हाथ पर हाथ धर कर बैठ जावें और बंगले में बैठे-बैठे ही धन की कामना करते रहें, तो सज्जनो! ऐसी कामना से क्या काम बनने वाला है?

केवल कामना ही कामना से काम नहीं चलता। समस्त ऋद्धिया और सिद्धिया उसी व्यक्ति के गले में वरमाला डालती हैं, जो उद्योगी और पुरुषार्थी होता है।

सज्जनो! पुरुषार्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। पुरुषार्थ को वीर्य-शक्ति या पराक्रम भी कह सकते हैं। शास्त्रकारों ने तीन प्रकार की वीर्य शक्तिया बतलाई हैं—(१) पण्डितवीर्य (२) बालपण्डित वीर्य और (३) बाल वीर्य।

पण्डित या ज्ञानी पुरुष का पुरुषार्थ पण्डित वीर्य कहलाता है। यह आत्मार्थी का अथवा मोक्ष के साधक का पुरुषार्थ है। आत्मार्थी ज्ञानी पुरुष की दृष्टि अन्तर्मुखी होती है, बहिर्मुखी नहीं होती। वह बाहर की ओर नज़र न डालकर अपने अन्दर ही देखता है। उसे जो कुछ पाना है, ढूंढना है और खोजना है, वह सब भीतर ही से प्राप्त करना और खोजना है। बाहर भटकने की उनकी वृत्ति नहीं होती। वे गिरिकन्दराओं, मन्दिरों में या नदी-नालों में नहीं ढूंढते हैं। इधर जाना, उधर जाना, इसे मिलाना, उसे मिलना,

यह सब बाह्य दृष्टि से बाह्य पदार्थ मिल सकते हैं, मगर वे सुखी नहीं बना सकते। आत्मा के आनन्दमय स्वभाव को प्रकट नहीं कर सकते। यही नहीं, वे उस स्वभाव को आच्छादित करते हैं, दबाते हैं और विकृत करते हैं। मनुष्य अपनी इस विपरीत प्रकृत्ति के कारण ही सुखी नहीं बन पाता। वह सुखी बनने के लिए ऐसी चेष्टाए करता है, जिनके परिणामस्वरूप दुखी बनता जाता है। बाह्य पदार्थ सुख प्रदान नहीं कर सकते, क्योंकि सुख उनमें है ही नहीं। जिसके पास जो वस्तु है ही नहीं, वह लाख प्रयत्न करने पर भी कैसे पाई जा सकती है? सुख आत्मा का स्वभाव है और आप भौतिक पदार्थों में उसकी खोज करने चले हैं तो निराशा के सिवाय और क्या पल्ले पड़ने वाला है?

अतएव ज्ञानी जन कहते हैं कि यदि तुझे सचमुच ही सुख की अभिलाषा है तो सुख को खोजने से पहले सुख का स्थान तो खोज ले। यह तो समझ ले कि तुझे सुख कहा मिल सकेगा? अगर इस प्रश्न का सही उत्तर मिल गया तो सुख की सभावना भी की जा सकती है। अगर तू यही न जान पाया कि सुख कहा है, तो फिर भटकते फिरना ही तेरे भाग्य में है, सुख पाना नहीं।

वास्तव में हमारी दृष्टि आन्तरिक होनी चाहिए। हमें आनन्द के मूल स्रोत और अक्षय भडार आत्मा की ओर ही देखना चाहिए। तो पहली श्रेणी की जो पुरुषार्थी आत्माए हैं, वे पण्डितवीर्यवान् आत्माएं कहलाती हैं। उन्हें वीर्यान्तरायकर्म को तोड़ने से जो बल, वीर्य, पराक्रम या पुरुषार्थ करने की शक्ति प्राप्त होती है, वे उसका दुरुपयोग नहीं करतीं। ऐसे पुरुष अपनी शक्ति से दूसरों को हानि नहीं पहुँचाते।

जो सन्त पुरुष पाप से डरता है, जिसने समस्त पापों का त्याग कर दिया है, जो षट् काय के जीवों का सरक्षक है, और जिसकी मानसिक, वाचिक एव कायिक प्रकृति स्व और पर के कल्याण के लिए होती है, वह 'पण्डित' कह-

लाता है। पण्डित पुरुष का पुरुषार्थ सीधी दिशा में चलता है, जिससे वह अपना भी भला करता है और दूसरों का भी। वे पण्डित वीर्य वाले सर्वविरत साधु होते हैं, पूर्ण रूप से प्रत्याख्यानी होते हैं और समस्त आस्रवों के संसर्ग के त्यागी होते हैं।

आने वाला पानी मोरी या छिद्र रहने से बंद नहीं होता। मिट्टी लगाकर पाल बाधने से ही वह रोका जा सकता है। तो कर्मास्रव रूपी पानी, जो चारों ओर से ही बहता चला आ रहा है, उसे रोकना क्या साधारण बात है? देखिए, आज पानी ने कैसी तबाही मचा रक्खी है। कई जगहों पर गाव के गाव जल-मग्न हो रहे हैं। यद्यपि सरकार बाढों पर नियन्त्रण पाने की भरसक चेष्टा कर रही है, बाध बनवा रही है, फिर भी अपार जलराशि पर काबू पाना कठिन हो रहा है। इधर बाध बन कर तैयार होता है, उधर वर्षा आती है और बाध को बहा ले जाती है।

सज्जनो! पानी के प्रचण्ड प्रवाह को रोक देना बच्चों का खेल नहीं। सरकार के प्रचुर साधन भी इसमें पूरी तरह सफलता नहीं पाते। इसी प्रकार अनन्त काल से पापों का जो तीव्र प्रवाह चला आ रहा है, जो बाढ आ रही है, उसे रोकना तो और भी अधिक कठिन है। परन्तु पंडितवीर्य वाली आत्माएं अवश्य उसे रोकने में सफल होती हैं।

बाध बाधना भी हासी खेल नहीं। हरेक व्यक्ति बाध नहीं बाध सकता। इसके लिए पहले अच्छी तरह ट्रेनिंग लेनी पड़ती है। कई प्रकार के एस्टीमेट तैयार करने पड़ते हैं। बड़े-बड़े इजीनियर अपने दिमाग पचाते हैं। तब कहीं बाध की योजना तैयार होती है। तत्पश्चात बहुत से व्यक्तियों को परिश्रम करना पड़ता है। तब कहीं बाध तैयार होते हैं। इसी प्रकार कर्मों के प्रवाह को रोकना भी आसान नहीं है। जैसे बाध बनाने वालों को ट्रेनिंग लेनी पड़ती है, उसी प्रकार निरन्तर आने वाले कर्मों के प्रवाह को अवरुद्ध करने के लिए भी सच्चे गुरु की उपासना करके शिक्षण लेना पड़ता है। ऐसा करने पर ही वह

उन्मत्त प्रवाह रुक सकता है। शिक्षण लिये विना कोई भी काम सुचारु रूप से नहीं हो सकता।

शास्त्रकारों ने शिक्षा भी दो प्रकार की वतलाई है या यों कहें कि मूल भून दो रूपक हैं—प्रथम ग्रहणी शिक्षा और द्वितीय आसेवनी शिक्षा। यह दोनों शिक्षाए मनुष्य के कल्याण के लिए हैं। अगर इन दोनों शिक्षाओं को जीवन में आत्मसात् कर लिया जाय तो फिर दूसरी किसी शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

सवसे पहले ग्रहणी शिक्षा लेनी चाहिए। अर्थात् जो काम करना है, बुजर्गों से पहले उसकी शिक्षा ग्रहण करो। उसका ज्ञान हासिल करो। व्यवहार में देखा जाता है कि जिस मनुष्य को किसी किस्म की दुकान करनी होती है, वह पहले उसी किस्म की किसी दूसरे की दुकान पर काम करता है, साल-छह महीने अनुभव प्राप्त करता है और फिर स्वतन्त्र रूप से दुकान चलाता है। ऐसा करने से ही सफलता प्राप्त होती है। इसी प्रकार डाक्टर वनने की इच्छा रखने वाले को किसो मेडिकल कालेज में जाकर ट्रेनिंग लेनी पड़ती है। वकील को वकालत की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के पश्चात् भी किसी अनुभवी वकील से छह महीने तक अनुभव लेना पड़ता है। उसके वाद उसे डिप्लोमा मिलता है। ऐसा होने पर ही डाक्टर या वकील अपने कार्य में कुशलता पाते हैं। ट्रेनिंग नहीं पाया हुआ डाक्टर 'नीम हकीम खतरे जान' वाली कहावत चरितार्थ करता है। कहते हैं—'अनजान हकीम, लोभी गुरु और खुशामदी वज़ीर से खैर नहीं।' अगर हकीम अपने फन में होशियार नहीं होगा तो उससे मरीज को पूरा-पूरा खतरा समझिए। सभव है, उसे प्राणों से भी हाथ धोना पड़े। लोभी गुरु भी समाज का क्या पथप्रदर्शन कर सकेगा? वह लोभवश ठकुर सुहाती वातें कहेगा। उससे कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। क्योंकि—

गुरु लोभी शिष्य लालची, दोनों खेलें दाव।
दोनो डूवे वापडे, चढ़ पत्थर की नाव॥

जब चेला सोचे कि गुरु जी कहीं चल देते तो सब दान-दक्षिणा मैं ही ले लेता और गुरु जी सोचें कि चेला बाहर चला जाता तो इन सब चीज़ों को मैं अपने कब्जे में कर लेता, और इस प्रकार दोनों ही अपने-अपने दाव में लगे हों, तो भला वे भक्तों का क्या कल्याण कैसे कर सकते हैं ? ऐसे लोभी गुरुओं से भक्तों का कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता। ऐसा गुरु भक्त के कान में क्या गुरुमंत्र फूंकता है ?

कानापाती कुर्र, तू चेला मैं गुर्र,
मावे डूबे तर्र, हमारा उल्लू सीधा कर्र।

जिनका सिद्धान्त ही ऐसा होता है, वह लोभी-लालची गुरु यही सोचा करते हैं—'बूढ़ा मरे या जवान, हमें दक्षिणा से काम।' बस, उन्हें दक्षिणा मिल जानी चाहिए, किसी को कोई अनिष्ट होता हो तो हो। उनकी बला से ऐसे गुरु अपना ही भला नहीं कर सकते तो दूसरों की क्या भलाई करेंगे ? वे तो पत्थर की नौका के समान हैं। पत्थर की नौका स्वयं भी डूबती है और बैठने वालों को भी पैंदे में ले जाकर बिठा देती है।

दूसरों को तारने का, दूसरों का उद्धार करने का या पार उतारने का अधिकार किसको है ? जिसमें स्वयं को तिराने की शक्ति है—जो स्वयं पार लग सकता है, वही दूसरों को पार लगा सकता है। यह एक लकड़ी की बनी किश्ती को ही हासिल है, पत्थर की नाव को नहीं।

कोई अगाध समुद्र हो, छिद्र वाली नाव हो, जन्मान्ध बैठने वाले हों और दुर्भाग्य से जन्मान्ध ही मिल जाय खिवैया! कहिए ऐसे लोगों के पार होने में भी कोई शंका है ? अजी साहब, वे ऐसे पार होंगे कि ढूढ़ने पर भी पता नहीं लगेगा। क्योंकि प्रथम तो नौका ही छिद्र वाली है, अत उसमें पानी पैठना शुरू हो जाएगा। फिर बैठने वाले अंधे हैं। उन्हें छिद्र का पता भी लगने वाला नहीं। आंख वाले तो छिद्र को बंद कर सकते हैं, परन्तु जिन्हें छेद ही नहीं दिखाता, वे कैसे उसे बंद कर सकेंगे ? फिर तीसरे नम्बर में गज़ब की

वात यह है कि उस नाव का खिवैया—पार लगाने वाला नाविक भी तो अन्धा है। उसे दीख पड़ता, होता तो भी भय की वात नहीं थी। वह उन सबको पार लगा देता। मगर सब सयोग ऐसे वने कि उन सवको नाव के साथ ही समुद्र के पैदे में जाकर सदा के लिए विश्रान्ति ग्रहण करनी पड़ेगी।

इसी प्रकार जहा धर्म रूपी नौका में, छह काया की हिंसा करके, त्रस जीवों की हिसा करके, आत्म कल्याण मानना रूपी छिद्र हो, वहा पार उतारने की सभावना कहा ? ऐसी सछिद्र नाव आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों आहिस्ता-आहिस्ता डूवती ही जायगी। फिर वह नाव चाहे किसी की भी क्यों न हो! वहा जाति-पाति का विचार नहीं। सछिद्र नाव में जो भी वैठैगा, वही डूवेगा, चाहे कोई तेरा-पथी हो, वाईस पथी हो, दिगम्बर हो या श्वेताम्बर हो। अथवा सनातनी हो या और कोई हो। वहा किसी नाम या लेविल की पूछ नहीं है, अतएव सज्जनो! आपको सावधान हो जाना चाहिए।

सज्जनो! जो धर्म, पाप का समर्थन करता है, उस धर्म से कल्याण नहीं हो सकता।

अच्छा, उस हिंसा रूपी नाव में वैठने वाले सव अंधे हैं, जिन्हें हिंसा का आता हुआ स्रोत नजर नहीं आता। खैर उन्हें नज़र नहीं आता तो न सही, कोई वात नहीं, किन्तु वे खिवैया, वे धर्म गुरु, तो आख वाले होते कि जिन्होंने वैठने वालों को पार करने का ठेका लिया है। मगर उन गुरुओं की आखों पर तो डवल मोतिया आ रहा है, जिसका इलाज होना भी कठिन है। मगर ऐसे लोभी गुरुओं से काम चलने वाला नहीं है।

इसी प्रकार खुशामदी वज़ीर से भी काम चलने वाला नहीं। वह वादशाह की आखों और उगलियों के इशारे पर नाचता है और उसी की हा में हा मिलाता है। कोई वात सही है या गलत, इस वात की चिन्ता उसे नहीं है। उसे एक ही चिन्ता है कि जहापनाह कैसे खुश रहें। जनता की भलाई-बुराई से उसे कोई सरोकार नहीं, उसे अपनी भलाई देखनी है। ऐसे जी-हजूरों ने

सारा मामला गड़बड़ कर रक्खा है। परन्तु याद रखना चाहिए कि जिस मनुष्य की कोई निर्धारित नीति नहीं होती, वह किसी को भी खुश नहीं कर सकता। वह दोनों ओर से हाथ धो बैठता है।

तो मैं आपसे कह रहा था कि मनुष्य चाहता है कि मेरा कल्याण हो और मुझे सुख मिले, किन्तु सुख-प्राप्ति के योग्य काम किये विना सुख मिलने वाला नहीं है। और उसी को प्राप्त करने के लिए तीन प्रकार के उद्यम-पुरुषार्थ वीर्य होते हैं।

हा, तो पण्डितवीर्यवान् आत्मा वह है जो पुण्य योग से मिली हुई अपनी शक्ति को धर्म की साधना में लगाता है, आत्मिक साधना में लगाता है और अपनी सम्पूर्ण शक्ति कर्मो के साथ जूझने और विजय प्राप्त करने में लगाता है। पूर्वार्जित कर्मों को खपाने में और नवीन कर्मो के आस्रव-प्रवाह को रोकने में लगाता है।

मैंने बतलाया था कि पानी को प्रत्येक व्यक्ति नहीं रोक सकता। उसे रोकने के लिए ट्रेनिंग लेनी पड़ती है, शिक्षा लेनी पड़ती है। वह शिक्षा दो प्रकर की है—ग्रहणी और आसेवनी। पहले तो जो शिक्षा लेनी है, उसे लेते जाओ, ग्रहण करते जाओ और बोध प्राप्त करते जाओ। भगवान् ने फर्माया है—'पढम नाण तओ दया।' पहले ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञानप्राप्त कर लेने पर ही क्रिया सुफलदायिनी होती है। मनुष्य जिस किसी भी ओर जाता हो, पहले उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। डाक्टर बनना हैं तो ट्रेनिग लेनी होगी वकील बनना है तो ट्रेनिग चाहिए। अभिप्राय यह है कि किसी भी क्षेत्र में प्रवेश करने मे पहले शिक्षा लेना अनिवार्य होता है। शिक्षण लिये विना कोई किसी क्षेत्र मे सफल नहीं हो सकता, बल्कि ऐसे आदमी को अपमानित होकर वापिस लौटना पड़ता है।

मगर एक बात ध्यान मे रहे। शिक्षण-ज्ञान वही प्राप्त कर सकता है जो अपने आप को छोटा मानता है। जो अपने को बड़ा समझेगा, बड़प्पन के

अहंकार में चूर रहेगा, उसे कुछ भी मिलने वाला नहीं है। तुम किसी के कुछ बनोगे तो सीखोगे। किसी के नहीं बनोगे तो तुम्हारा भी कौन बनने वाला है? एक कवि ने कहा है।

ना कुछ हमने हंस कर सीखा, नाहीं रोकर सीखा।
यदि कुछ सीखा तो निश्चय ही, उनके बनकर सीखा।

दो ही मार्ग सामने हैं—या तो किसी के बन जाओ या किसी को अपना बना लो। किन्तु बनाने की अपेक्षा बन जाना ही ठीक है, क्योंकि अपने को बनाना अपने अधिकार की बात है। इसके अतिरिक्त बने बिना बनाना कठिन है। किन्तु जो स्वयं बनता नहीं है और बनाता भी नहीं है, उसका काम बनता भी नहीं है। अतएव लघुभाव धारण करके, अपनी अल्पज्ञता को अनुभव करके, अहकार का परित्याग करके पहले ग्रहणी शिक्षा प्राप्त करो अर्थात् ज्ञान हासिल करो। मैं पहले ही कह चुका हू कि लौकिक व्यवहार में आप ऐसा ही करते हैं। दुकानदार बनने के लिए पहले दूसरे की दुकान पर रह कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार सब जगह पहले ग्रहणी शिक्षा की आवश्यकता होती है।

मगर ग्रहण करके बैठ जाने से काम नहीं चलता। आपने दुकान चलाना सीख लिया और घर पर बैठ रहे तो आपका सीखना क्या काम आया? कोरे सीखने से आपका जीवन निर्वाह होने वाला नहीं है। आवश्यकता यह है कि ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उसे अमल में लाया जाय, अर्थात् ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति की जाय। दुकानदारी सीख लेने के पश्चात् आप कपड़े की, सोने-चादी की या पीतल आदि की दुकान खोलते हैं। तो सीखे हुए ज्ञान को अमली जामा पहनाना होगा। ऐसा करने से वह ज्ञान दिन दूना रात चौगुना बढता ही चला जायगा, विस्मृत नहीं होगा और सार्थक बन जायगा। क्योंकि जो थोड़ा सा ज्ञान हासिल कर लेते हैं और उसे कार्य रूप में परिणत करते हैं वे 'करता उस्ताद और न करता शागिर्द' वाली कहावत चरितार्थ करते हैं।

तो वार-वार ज्ञान को दोहराने से ज्ञान ताजा रहता है, निखरता जाता है और वढता जाता है।

तात्पर्य यह है कि पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, फिर उसे जीवन में उतारना चाहिए, अर्थात् चरित्र का रूप प्रदान करना चाहिए। ऐसा होने पर ही आत्मा का कल्याण हो सकता है और सुख प्राप्त हो सकता है।

तो ग्रहणी शिक्षा की सबसे पहले और सब जगह आवश्यकता है। क्या घर क्या बाहर, क्या व्यवहार और क्या धर्म, प्रत्येक क्षेत्र में ग्रहणी शिक्षा अनिवार्य है। जो यह शिक्षा नहीं लेता तो पीछे पछताना पड़ता है। इस प्रकार दोनों शिक्षाओं की आवश्यकता है। जो आने वाले कर्मों को रोकना चाहता है, उसे सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि आत्मा क्या है, कर्म क्या है, कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे होता है, किन कारणों से कर्म आते हैं, आ कर वे आत्मा पर क्या असर डालते हैं, किस विधि से इनका आना रोका जाता है, किस प्रकार पहले आये कर्मों का क्षय किया जाता है और कर्मक्षय होने के पश्चात आत्मा की कैसी स्थिति होती है ?

सज्जनो! ऊपर जो मुद्दे प्रश्नों के रूप में दिये गये हैं, वे तो मोटे-मोटे मुद्दे हैं। इनके अतिरिक्त, अगर गहराई में उतरें तो, सैकड़ों बातें सामने आती हैं। उन सबको समझना पड़ता है। उन्हें समझे बिना साधना के पथ पर सफलतापूर्वक गमन नहीं किया जा सकता। और ऐसा न समझिए कि यह ज्ञान कोई बड़ा हौआ है। नहीं, मगर आपके मन में आत्मा का हित करने की इच्छा जागृत हो जाय और जिज्ञासा वृत्ति उत्पन्न हो जाय तो युक्त विषयों का ज्ञान प्राप्त करना कुछ भी कठिन नहीं है। अपने आपको समझने में कौन-सी कठिनाई है ? कठिनाई तो तभी तक महसूस होती है जब तक अन्त - करण में प्रबल भावना उत्पन्न नहीं हुई है।

इसके अतिरिक्त आपकी आत्मा रूपी सरोवर में कर्म रूपी जो जल आ रहा है, उसे रोकने के लिए किसी योग्य गुरु की आवश्यकता है। वही तुम्हें

बताएगा कि किस प्रकार उस पानी के प्रवाह को रोका जाना चहिए। वह तुम्हें कहेगा कि कर्मों के स्रोत को प्रत्याख्यान द्वारा, व्रत द्वारा और नियमादि के द्वारा रोका जा सकता है।

सज्जनो! कहावत है—'युक्ति से मुक्ति।' अर्थात् युक्ति से सब काम होता है। युक्ति के बिना छोटा-सा काम भी भारी दिखाई पड़ता है।

किसी सेठ के घर नयी बहू आई। सासू ने सोचा—जिसे आगे चलकर घर का समस्त उत्तरदायित्व सौंपना है और गृहस्वामिनी है, उसकी परीक्षा तो कर लेनी चाहिए। देखना चाहिए—यह होशियार है या केवल आटे की मशीन है? यह सोचकर सासू ने एक दिन बहू से कहा—'मैं पड़ौस में किसी से मिलने जा रही हूँ। सूर्य अस्त होने वाला है। ख्याल रखना, कहीं अंधेरा मकान में न घुस जाय!' बहू के भरोसे घर छोड़कर सेठानी पड़ौसिन के घर चली गई। सूर्य देवता ने अस्ताचल की ओर प्रयाण किया और अंधकार रूपी राक्षस अपना आधिपत्य स्थापित करने लगा। जब अंधेरा बहू-रानी के गृह में प्रवेश करने लगा तो वह दुविधा में पड़ गई कि अब मैं क्या करूं? इसे कैसे रोकूं? वह गांव में जन्मी थी और सासू का आदेश उसके लिए ब्रह्मवाक्य से कम नहीं था। वह सासू के अभिप्राय को अच्छी तरह समझी नहीं, सिर्फ इतना समझी कि घर में अंधकार को नहीं घुसने देना है। मगर अंधेरा बिना पूछे घर में घुस आया। तब उसने विवश होकर अंधेरे को संबोधन करके कहा—'देखो अंधकार साहब! मेरी सासू जी की आज्ञा है कि तुम मकान में मत घुसो। अतएव चुपचाप यहां से कूच कर जाओ।' मगर भद्र पुरुषो! क्या अंधकार उसकी आज्ञा मान कर बाहर निकलने वाला था? वह धीरे-धीरे अधिक-अधिक फैलने लगा। उसने बहुत भाई-वीरा किया, मगर वह नहीं माना।

बहू विचार करने लगी—यह जड़ बुद्धि है। इस प्रकार रोने-धोने से काम नहीं चलेगा। जड़ किसी की सुनने वाला नहीं, किसी को कुछ देने दिलाने

वाला नहीं। सुनना और सुनाना, समझना और समझाना, सब चेतन के सामने होता है।

तो वह वधू अंधेरे के सामने मिन्नतें करती है, किन्तु सब व्यर्थ प्रलाप सिद्ध होता है। तब उसने सोचा—वह बड़ा ही ढीट है। किसी के कहने—सुनने का भी ख्याल नहीं करता। तब उसने कहा—अच्छा तू यों मानने वाला नहीं है, मैं दूसरी तरह से इलाज करती हूँ। यह कह कर वह भग घोटने का एक सोटा उठा लाई और अंधेरे से बोली— अभी तक तो मैं बातों से समझा रही थी। मगर मैं ने देख लिया कि लातों के देव बातों से नहीं मानते। ले, अब मैं तेरी मरम्मत करती हूं।

वहू रानी सोटा लेकर पिल पड़ी। उसने आव देखा न ताव और लगी जहा-तहा सोटा बजाने। तमाम वासन-भाडे, जहा-जहा अधकार प्रवेश कर चुका था, फोड़ने शुरू किये। वह गुस्से में सारी सूझ-बूझ खो बैठी। उसे यही खयाल न रहा कि वह क्या कर रही है। उसने घर का अधिकाश सामान तोड़-फोड़ कर ठिकाने लगा दिया। यहा तक कि अपनी चूड़िया भी फोड़ लीं। परन्तु अंधकार नहीं निकला सो नहीं निकला। सारा घर सत्यानाश हो गया। यह देख वह पसीने से तर-बतर और पागल सी होकर बैठ रही।

इतने मे सासू जी ने प्रवेश किया। देखा तो मालूम हुआ कि केवल ब्रह्म ही ब्रह्म नजर आ रहा है और दूसरा कोई नहीं है। अर्थात् सब चीजें एकमेक हो रही हैं। तब उसने शान्ति के साथ वहू से पूछा—'चाँदनी, तूने यह क्या गज़ब कर डाला ?'

वहू बोली—सासूजी, मैंने भरसक आपकी आज्ञा का पालन किया है। अधकार को पहले तो बहुत नम्रता मे समझाया, खूब अनुनय-विनय की। मगर जब वह किसी भी प्रकार निकलने को तैयार न हुआ तो मुझे आखिरी स्टेप (कदम) लेना पड़ा। इसीसे यह हालत हो गई।

सासू ने मन ही मन चिढ कर कहा—अरी भद्रा। अंधकार कहीं इस तरह निकलता है? उसे निकालने के लिए तो उसके विरोधी तत्त्व प्रकाश को बुलाना पड़ता है।

यह कहकर सासू ने दिया सलाई मंगवाई। ज्यों ही दीपक प्रज्वलित किया कि प्रकाश हो गया और अंधेरे चन्द जी दुम दवा कर न जाने कहा भाग गये।

अव वहूरानी की आखों के आगे से भी अंधेरा हट गया। उसके दिमाग में घुसा हुआ अंधकार भी दूर हो गया। उसने कहा—सासू जी, यह तरीका आपने मुझे पहले ही क्यों नहीं बतला दिया?

सासू बोली—यही तो तुम्हारी परीक्षा थी।

सज्जनो! हर जगह युक्ति से काम चलता है। युक्ति बिना मुक्ति भी नहीं है।

युक्ति न जानने के कारण अज्ञानी जीव अकामनिर्जरा हैं, क्रिया नहीं करते हैं, वे भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकते हैं। तपस्या कर-कर शरीर का शोषण करते हैं, दुखी हो जाते हैं, काया को कृश करके काटा बना लेते हैं और प्राणों को नष्ट कर डालते। किन्तु उनका अज्ञान-अंधकार दूर नहीं होता।

तव ज्ञानी कहते हैं—इस अज्ञान-अंधकार को निकालने के लिए किसी ज्ञानी गुरु से शिक्षा लेनी चाहिए और फिर उसे अमल में लाना चाहिए कि यह भोजन भक्ष्य है या अभक्ष्य, पथ्य है या अपथ्य, और उसके बाद ही पथ्य भोजन का सेवन किया जाय तो वह लाभप्रद हो सकता है। भोजन का ज्ञान हो जाने पर भी मगर उसे खाओगे नहीं तो भूख नहीं मिटेगी। कोरे ज्ञान ही ज्ञान से काम नहीं चलेगा। ग्रहणी शिक्षा के पश्चात् आसेवनी शिक्षा की भी आवश्यकता है। दोनों के समन्वय से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है, चाहे वह लौकिक सिद्धि हो या लोकोत्तर हो—मुक्ति हो।

ससार में विभिन्न मत हैं और जैनमत के अतिरिक्त सभी एकान्तवादी हैं। अतएव कइयों की धारणा है कि अकेले ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती, है, क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं वह निरर्थक है। ये कहते हैं।-

विज्ञप्ति• फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्या ज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात्॥

अर्थात् ज्ञान ही मनुष्यों को फलप्रद सिद्ध होता है, क्रिया फलदायी नहीं है। क्रिया फलप्रद होती तो मिथ्या ज्ञान पूर्वक की हुई क्रिया भी फलप्रद होनी चाहिए थी। मिथ्या दृष्टि की क्रिया भी क्रिया ही है फिर भी वह फलप्रद नहीं होती। इससे यही साबित होता है कि वास्तव में ही ज्ञान ही सिद्धि प्रदाता है।

वास्तव में यह सिद्धान्त गलत है। ज्ञान से आपको पदार्थ का बोध होगा जिस रास्ते पर चलता है, उसकी जानकारी होगी, किन्तु मेहरबान। उस रास्ते पर नहीं चलोगे तो अपनी मंजिल पर कैसे पहुंचोगे? इसी प्रकार जो अकेले ज्ञान में ही उलझ जाते हैं और उस ज्ञान को चारित्र रूप में नहीं उतारते हैं, क्रिया नहीं करते हैं, वे भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकते हैं।

तो यहा पण्डितवीर्य का जिक्र चल रहा है। पण्डित अर्थात् ज्ञानी पुरुष अपनी शक्ति का स्व तथा पर की भलाई में ही प्रयोग करते हैं। उनकी साधना, उनकी प्रवृत्ति और जीवन की प्रत्येक क्रिया धर्ममयी, कल्याणमयी और हितकर होती है। किसी के लिए कष्टकर नहीं होती। शक्ति मिलने का फल तो यही है कि उसके द्वारा किसी का भला किया जाय। मानवीय शक्तियों का तीन भागों मे वर्गीकरण किया जा सकता है—तनशक्ति, ज्ञानशक्ति और धनशक्ति। तीनों अपना-अपना काम करती हैं। पानी प्यास को शान्त करता है, भोजन भूख मिटाता है और वस्त्र सर्दी-गर्मी से शरीर की रक्षा करता है। सभी अपने-अपने स्थान पर उपयोगी होते हैं। किन्तु उक्त तीनों शक्तियाँ मिल जाने पर भी उनका सदुपयोग करने वाले बहुत ही थोड़े हैं। प्राय लोग उनका दुरुपयोग ही [illegible] हैं। कहा है —

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अर्थात् जो नीच पुरुष होते हैं, अधम पुरुष होते हैं, जिनके बालवीर्य होता है और जिनकी बालक वाली शक्ति होती है, जो बालकों की तरह बनाते-बिगाड़ते हैं और कोई ठोस कार्य नहीं करते, तोड़-फोड़ ही जिनका कार्य हैं परन्तु उसके पीछे कोई सुन्दर लक्ष्य नहीं है, ऐसे खल-नीच पुरुषों की शक्ति से किसी दूसरे का भला नहीं होता। उसे विद्या मिलती है तो सोचता है कि मैं विवाद करूँगा, और दूसरे का मान मर्दन करूँगा और अपनी विजयध्वजा ऊँची लहराऊँगा। ऐसे पुरुष की विद्या आत्म बोध के लिए नहीं होती और पदार्थ के स्वरूप को समझने के लिए नहीं होती। वह विवाद-झगड़ा करने में ही अपनी विद्या की सार्थकता समझता है।

इसी प्रकार ऐसे नीच पुरुष को किसी के पुण्य द्वारा यदि धन मिल जाय तो वह भी किसी विधवा या अनाथ अथवा दीन-दुखी का दुःख दूर करने के लिए नहीं है। उसका धन केवल अभिमान के लिए होता है। वह अभिमान में छका फिरता है। कोई उसे बुलाता है तो वह कहता है—जरा सँभल कर बोलो। अब मैं पहले वाला नहीं हूँ।

सज्जनों! अब पहले वाला नहीं है, मनुष्य नहीं है, तो क्या बन गया? कोई गधा बन गया? इस प्रकार नीच धनी पुरुष धनान्ध बन जाता है और गुरुभक्ति को भी भूल जाता है वह अपने भाइयों के सुख-दुख की पर्वाह नहीं करता और अपने ही हाल में मस्त रहता है। मगर यदि वह किसी के प्रति सहानुभूति लेकर नहीं चलता और हृदय से हृदय मिला कर नहीं चलता तो उसकी मस्ती किसी काम की नहीं है।

धन का चला जाना क्या बड़ी बात है ? आये दिन देखते है कि बात की बात में लखपति कंगाल बन जाता है। और शरीर में रोग का उद्भव हो जाना भी क्या आश्चर्यजनक है ? ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपने में ही मस्त रहने वाले को किसी की सहानुभूति प्राप्त होगी ? उसका सँभलना भी कठिन हो जायगा। हे पुरुष! तू ने किसी को सहयोग देकर मित्र बनाया होता तो उस हालत में तेरे लिए भी जीवन यापन करना आसान हो जाता।

सज्जनों! जीवन यापन करने के लिए किसी को साथी बनाओ तो सोच-समझ कर बनाना। किसी चोर या नीच को साथी मत बनाना। जो ईमानदार हो, शुद्ध आचार वाला हो और शुद्ध व्यवहार वाला हो, उसी को मित्र बनाना चाहिए। योग्य साथी के बिना सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह होने वाला नहीं है। आज कई उच्छृंखल एवं उद्दण्ड व्यक्ति कहते हैं—हमें किसी समाज या बिरादरी या राष्ट्र की आवश्यकता नहीं है। किन्तु मै कहता हूँ—बच्चू! जब समय आएगा तब तुम्हें पता चलेगा कि वास्तव में इनकी क्या आवश्यकता है ? जब जाने का समय आएगा तो कोई पानी पिलाने वाला भी नहीं मिलेगा अतएव याद रक्खो, कभी समाज का और संघ का अपमान न करो। जो समाज को और संघ को ठुकराता है, और मनमानी बातें चलाता है, आखिर में उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है।

कहने का आशय यह है कि बिरादरी ने जो उचित नियम बनाये हैं, जिन्हें दो-दो चार-चार बार बिरादरी में पढ़ कर सुना दिया गया है और जो स्वीकृत हो चुके हैं और हजारों मनुष्यों के बीच बाजार में सुना दिये गये हैं, उन्हें भी अस्वीकार कर देते हो तथा जिनको गुरु मानते हो, जिनके चरणों में मत्था रगड़ते हो, उन्हीं की आज्ञा का उल्लंघन करते हो और गुरु को दिये हुए वचन से फिर जाते हो तो यह लज्जा की बात है! मैं कहता हूँ—लानत है ऐसे भक्तों को! ऐसे लोगों का तो घर पर ही रहना भला। अगर गुरु के चरणों में आते हो तो ईमानदारी से आओ। इधर तो गुरु मानो और उधर

विश्वासघाती एव कृतघ्न बनो,गुरु के सामने किये वायदे को भूल जाओ, गुरु के समक्ष किये हुए निर्णय से फिर जाओ और उनको ठुकरा दो तो ऐसे भक्तों को क्या कहा जाय ? इस प्रश्न का निर्णय आप ही कर लें और समझ लें। ऐसे लोग गुरुभक्ति करते हैं या नाटक करते हैं ? उनका कोई सिद्धान्त नहीं, उन की कोई मर्यादा नहीं। वे बहुरूपिये के समान हैं।

दुनिया के लोगों! हाकिम के सामने बयान देते हो तो उस पर भी कायम रहना पड़ता है। जो कायम नहीं रहते उसे अपनी गलती के लिए दण्ड भोगना पड़ता है। तो जब कामी और क्रोधी हाकिम के सामने दिये गये वचन का पालन करना भी आवश्यक समझा जाता है तो अपने गुरु को दिये वचन पर और उनके सामने की हुई प्रतिज्ञा पर दृढ रहना कितना आवश्यक है! सज्जनों! वचनों की बड़ी कीमत है। जो वचन हार गया, समझो सभी कुछ हार गया। मगर संसार में आज ऐसी ही धाधली चल रही है। फिर भी मैं आपको सावधान करना चाहता हूँ कि आप अपनी महत्ता की रक्षा करें। समाज और सघ की प्रतिष्ठा बढावें। उसकी अवहेलना न करें। धन के मद में मस्त होकर बिरादरी को तुच्छ न मानें। जितना भी सम्भव हो, परोपकार करें दूसरों की भलाई में अपने धन का व्यय करें।

तो मैं कह रहा था कि पण्डितवीर्यवान् आत्माएँ वे हैं जो अपनी शक्ति का एक-एक कण परोपकार में व्यय करती हैं। उनके कार्यकलाप, उनकी वाणी और उनका चिन्तन-मनन स्व-परोपकार के लिए ही होता है। दूसरे का दु ख दूर करने में ही वे अपने सामर्थ्य की सार्थकता मानते हैं। सज्जन पुरुष को जो शक्ति मिली है, किसी दुखिया का दुख मिटाने के लिए रोते के आँसू पोंछने के लिए और अभाव-ग्रस्त का अभाव दूर करने के लिए मिली है। वह अपने जीवन को खतरे में डाल कर भी दूसरे के दु ख दूर करता है।

कोई पुरुष धोती पहन रहा है। पहनते-पहनते एक पल्ला हाथ से छूट गया। तो क्या वह उसे सँभालने में देर करता है ? नहीं, वह तत्काल ही उसे

सँभालता है और व्यग्र हो जाता है कि कहीं नगा न हो जाऊँ। तो जिसे ऊपर की नग्नता से इतना भय है, उसे अन्दर की नग्नता का कितना भय होना चाहिए? ऊपर की नग्नता की अपेक्षा भीतर का नगापन तो अत्यधिक अनर्थ-कर है। जिसने अपनी श्रद्धा को, वचन को और विश्वास को भंग कर दिया वह भीतर से नंगा है। जैसे आप शारीरिक नग्नता को सहन नहीं कर सकते और उसे बचाने के लिए फौरन हाथ बढ़ाते हैं, उसी प्रकार आत्मिक नग्नता को देख कर भी हाथ बढ़ना चाहिए।

सज्जनो! सज्जन पुरुष को पूर्वोक्त तीनों शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, या तीनों में से जो कोई भी शक्ति प्राप्त होती है, तो वह उनका उपयोग दूसरे प्रकार से ही करता है। उसकी विद्या विवाद के लिए नहीं होती, किन्तु आत्म-ज्ञान के लिए, आत्मबोध के लिए और धर्म-अधर्म को पहचानने के लिए होती है। धन होता है तो दान देने के लिए होता है। वह केवल संचय के लिए नहीं होता, जमीन में दबा देने के लिए नहीं होता और झूठे मुकदमा लड़ने के लिए नहीं होता। उसका धन उनके काम आता है जो भूखे हैं, मोह-ताज हैं या जिनके पास जीवन के साधन नहीं हैं। कंजूसों का धन किस काम का है। कहा है —

जोड़ कर मर जाएँगे, माल जमाई खाएँगे।

कंजूस उस धन का उपयोग नहीं कर सकते। वह तो उनके मरने के बाद दूसरों के ही काम आता है। कहा है —

माखिओए मध कीधुं, न खाधु न दान दीधु।
लूटीनारे लूटी लीधु, रे पामर प्राणी॥
चेते तो चेताबु तोने रे।

सज्जनो! मधुमक्खियाँ यत्र तत्र स्थित फूलों में से मधुसंग्रह करती हैं। वे न खुद खाती हैं और न दूसरों को खाने देती हैं। वे उसे छाती के नीचे दबा कर रखती हैं। कोई लेने जाय तो उसे चोंथ डालती हैं। कोसों तक उसका

पीछा करती हैं। वह मधु उनका परिग्रह है, पूंजी है। उन्होंने बड़ी मुश्किल से उसे इकट्ठा किया है। इसी प्रकार बहुत-से माया के लोभी—धन के पुजारी धन पर मक्खी की तरह जम जाते हैं। मगर याद रक्खो, कजूसों का धन यों ही चला जाता है। कोई कमाता है, कोई खाता है और कोई उसे लुटा देता है।

एक ग्रथ में पढा था कि धनकर्मा नामक एक सेठ था। उसके पास साठ करोड़ का धन था। वह पूर्वपुण्योदय से उसे मिल गया था, किन्तु भोगान्तराय कर्म के उदय से सेठ उसे भोग नही सकता था। उसका रक्षक मात्र था। उस की शारीरिक स्थिति ऐसी थी कि गेहूँ की रूखी रोटी खाले तो पेट में दर्द होने लगे। चुपड़ी खाले तो लोटा लेकर जगल की सैर करनी पडे। उसने लाभान्तराय का तो क्षयोपशम किया था, परन्तु भोगान्तराय कर्म का उसके तीव्र उदय था। अतएव धन होने पर भी वह उस का उपभोग नहीं कर सकता था। शाक-भाजी वह बाजार से लाता तो ऐसी कि गधे भी जिसे देख कर मुँह फेर लें।

इतना धन होने पर भी और उपभोग न कर सकने पर भी सेठ को संतोष न हुआ। क्योंकि तृष्णा तो सर्वभक्षिणी अग्निज्वाला है। वह कभी तृप्त नहीं होती—आगे से आगे बढ़ती ही जाती है। अतएव वह बेईमानी करके और झूठ बोल कर भी धन की वृद्धि करने में ही सदा संलग्न रहता था। वह धन बढने पर प्रसन्न होता है, पर भोग करना, खर्च करना उसे मरने के समान मालूम होता है। कभी कोई भिखारी, गरीब या लाचार उसके द्वार पर आ जाता तो उसे यमदूत के सदृश प्रतीत होता, क्योंकि दानान्तराय कर्म का भी उसने तीव्र बंध किया था।

लालची मनुष्य दान नहीं दे सकता। वह मागने वाले को बातें बनाकर ही टरका देता है। एक कवि ने कंजूस की नीति का इस प्रकार चित्रण किया है—

यस्य किञ्चिन्न दातव्यं, तस्य देयं किमुत्तरम्।
अद्य सायं पुन प्रात, साय प्रात पुन' पुनः॥

जो कंजूस किसी को कुछ देना नहीं चाहता, वह क्या उत्तर देता है? वह कहता है—अच्छा भाई, आज शाम को ले जाना। शाम होती है और मागने वाला आ धमकता है तो कहता है—कल सुवह आना। सुवह होने पर फिर शाम को आने के लिए कहता है। इस प्रकार नहीं नहीं करता मगर आगे के वायदे करता जाता है। मागने वाला थक जाता है और झख मार कर अपने घर बैठ रहता है।

सेठ के यहा भी एक याचक प्रतिदिन आता था और सेठ उसे सुवह-शाम करके टरका देता था। वह वेचारा गरीव, आशा का मारा, विला नागा सेठ के घर हाजिरी दे जाता था, किन्तु एक वार भी उसकी आशा फलीभूत नहीं हुई। यद्यपि भिक्षुक ब्राह्मण विद्वान् था, मगर लक्ष्मी देवी उससे रूठी हुई थी। अकसर देखा जाता है कि जिस मनुष्य पर सरस्वती की कृपा होती है, लक्ष्मी उससे रुष्ट रहती है और जिस पर लक्ष्मी प्रसन्न है, उस पर सरस्वती अप्रसन्न रहती है। कोई असाधारण पुण्यशाली ही ऐसा हो सकता है, जिसके गले म दोनो ने वरमाला डाली हो। नीति में लिखा है—

गन्ध सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे,
नाकारि पु'प खलु चन्दनस्य।
विद्वान् धनी भूपतिदीर्घजीवी,
धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥

अर्थात सृष्टि रचना के समय विधाता को कोई बुद्धि देने वाला नहीं मिला। इसी कारण उसने सृष्टि रचना करने मे वहुत वड़ी-वड़ी भूलें कर डाली हैं। उस वूढ़े विवाता की भूलों के कुछ नमूने यह हैं—उसे सोने में सुगध देने की न सूझी, ईख में फल लगाना याद न रहा और चन्दन

वृक्ष में फूल वह बनाना भूल गया। विधाता ने विद्वान तो बनाये, परन्तु उन्हें निर्धन बनाया और राजाओं को अल्पायु बनाया।

प्राय पण्डितजनो की जेब खाली रहती है। यह विधाता की एक बड़ी भूल का फल है।

हां, तो वह याचक यद्यपि पण्डित था, मगर जीविका उसे भिक्षा के द्वारा चलानी पड़ती थी। भाग्य की बात ही समझिए कि इतना बड़ा घर पकड़ने पर भी अभी तक उसकी आशा फलित नहीं हुई! एक दिन पण्डित ने विचार किया—इस मूजी ने मुझे परेशान कर दिया। भला आदमी इन्कार भी तो नहीं करता।

एक दिन धनकर्मा सेठ धन के चक्कर में कहीं अन्यत्र गये। याचक ने यह देखकर सोचा—चलो, यह अच्छा अवसर है। इस अवसर से अवश्य लाभ उठा लेना चाहिए। उसने अपने विद्यालय से तत्काल ही सेठ का रूप बना लिया। वह शक्ल, वही सूरत, वही बोली और वही सारा रंग-ढंग। देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यह असली सेठ नहीं है। बस, उसने सेठ के घर में प्रवेश किया। प्रवेश करते ही सेठानी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—अजी आप तो बहुत जल्दी वापिस लौट आये। क्या हुआ?

सेठ-रूपधारी ने कहा—आज अपशकुन हो गया, अत॰ वापिस आ गया।

सेठानी षड्यन्त्र को पहचान न सकी। उसे ख्याल भी न हुआ कि यह अन्य पुरुष है।

इधर घर में प्रवेश करते ही उसने नगर भर में ढोल पिटवा दिया कि यह आज धनकर्मा सेठ निर्धनों को धन देंगे, वस्त्रहीनों को वस्त्र बाटेंगे, भूखों को भोजन देंगे, और निराश्रितों को आश्रय देंगे। अतएव जल्दी से जल्दी जाकर सब लोग अपनी-अपनी कामना पूरी कर लें।

नकली सेठ ने सोच लिया था कि आज इस कृपण सेठ की सब तिजोरियाँ खाली कर देनी हैं। इस कम्बख्त ने धन गाड़-गाड़ कर जमीन पोली कर दी।

दान की घोषणा सुनते ही धनकर्मा सेठ की हवेली के सामने याचकों का ठट्ठ लग गया—असंख्य याचक जमा हो गए। तब नकली सेठ धनकर्मा ने दोनों हाथों से धन, वस्त्र, अनाज आदि लुटाना आरम्भ किया। उसे जल्दी थी। वह चाहता था कि सेठ के आने से पहले-पहले ही घर का माल ठिकाने लगा दिया जाय।

परन्तु दान की घोषणा का समाचार उस गाव में भी पहुंच गया, जहा सेठ था। जब उसे मालूम हुआ कि मेरे गाव में धनकर्मा खुले हाथों दान दे रहा है, तो उसके चित्त में खलबली मच गई। उसने सोचा—धनकर्मा तो मैं ही हू। इस नाम का दूसरा कोई सेठ वहाँ नहीं रहता। फिर यह नया धनकर्मा कहा से पैदा हो गया? हो न हो कोइ भारी षडयन्त्र है। जान पड़ता है, किसी ने मेरे साथ छल किया है। हाय कहीं मैं लुट न जाऊं!

बेचारे सेठ के प्राण सूख गये। गिरता-पड़ता, हाँफता हुआ किसी प्रकार घर पहुँचा।

ईधर नगर निवासी और याचक विस्मित थे। जो सेठ कभी किसी को फूटी कौड़ी नहीं देता था, रोटी का टुकड़ा और अनाज का दाना तक देने को तैयार न होता था, वही आज मुक्त हस्त से इस प्रकार द्रव्य लुटा रहा है! एक ही साथ पिछली सारी कसर निकाल रहा है। वास्तव में आज इसका पुण्योदय हुआ है कि उदारतापूर्वक दान दे रहा है। जिसने भी दान देते देखा या दान की बात सुनी, वही हैरान रह गया।

धनकर्मा ने आकर देखा—आज मेरे घर थैलियों के मुह खुले पडे हैं, अनाज के कोठे और वस्त्र के भंडार सब खुले हुए हैं। यह देखते ही सेठजी का स्वास ऊपर का ऊपर और नीचे का नीचे रह गया। उसने सोचा—देखू तो सही कि कौन मेरा माल बेरहमी से लुटा रहा है।

सेठ भीतर गया तो देख कर चकित रह गया कि यहां कोई दूसरा धनकर्मा बना बैठा है। उसने कहा—कौन नीच पुरुष मेरे घर में धन लुटा रहा है?

यह चार सौ वीस करने वाला कौन है ? इस घर का और दुकान का मालिक मैं हूँ।

तब नकली सेठ ने कहा—सज्जनो ! आप मुझे जानते हैं या नहीं ? मैं आपके लिए नया तो नहीं हूँ ?

सब एक स्वर से चिल्लाए—जी हां, जी हां, आपको भला कौन नहीं पहचानता ? आपको नगर का बच्चा-बच्चा जानता है। ऐसे महादानी को कौन न जानेगा ?

जो नहीं जानते थे, उन्होंने भी कह दिया—जानते हैं, खूब जानते हैं और वे ऐसा क्यों न कहते ? कहावत है—'हाथ पोला तो जगत् गोला' यों कोई किसी के वश में आने वाला नहीं है, परन्तु जो जिसका खाता है, वह उसी के गीत गाता है। कहा है—

> को न याति वशं लोके, पिण्डेन मुखपूरिते।
> मृदङ्गो मुखलेपेन, करोति मधुरं ध्वनिं ॥

मृदंग या तबला जब ढीला पड़ जाता है, तब उसके मुख पर थोड़ा-सा गेहूं या उड़द का आटा लगा दिया जाता है। और इसके मुख पर कोई घी-शक्कर, बादाम का हलुआ या चक्की नहीं लगाते, थोड़ा-सा फीका आटा लगाते हैं। इससे वह टाइट (सख्त) हो जाता है और फिर उसमें से, हाथ का इशारा होते ही, मधुर ध्वनि निकलने लगती है। जरा विचार कीजिए, मुर्दार चमड़ा है और उसके मुख पर थोड़ा-सा आटा लग गया है, तो वह भी लगाने वाले के मतलब की आवाज निकालने लगा। तो फिर जिन्हें मोहरें मिली हों और अनाज और वस्त्र मिला हो, वे क्यों न उसके पक्ष में बोलेंगे ? बस एक स्वर से सभी कहने लगे—'हम जानते हैं, खूब पहचानते हैं।'

दुनिया काम देखती है, और कुछ नहीं देखती। जिसका काम उत्तम है, वही पुरुष उत्तम माना जाता है।

अपना समर्थन पाकर नकली सेठ ने कहा—अपनी खैर चाहते हो तो निकल जाओ घर से। अन्यथा खोपड़ी फोड़ दी जायगी।

असली धनकर्मा घबराया। वह लाचार और हैरान हो गया। उसने चिल्ला कर कहा—भाइयों! मैं ही असली धनकर्मा हूँ।

मगर भीड़ में से आवाज आई—नहीं, झूठ है। तुम धनकर्मा नहीं हो। असली धनकर्मा यही हैं।

उनके लिए तो असली वही है, जिसने माल खिलाया है। दोनों की शक्ल एक ही सरीखी थी। अतः लोगों ने असली सेठ से कहा—तू ठग है और सेठ की सम्पत्ति पर कब्जा जमाना चाहता है।

नकली सेठ ने जनसमूह को अपने पक्ष में देखकर कहा—आप लोगों की क्या इच्छा है? मैं घर से निकल जाऊ?

लोग कहने लगे—नहीं सेठ साहब! आप मालिक हैं। आप यही रहिए। जो नकली है वह जायगा।

सज्जनो! इसी का नाम तो वृन्दावन है। लोगों ने सोचा—दोनों की शक्ल एक-सी है, पर अक्ल में फर्क है। एक ने दरिद्रों की दरिद्रता दूर की है और दूसरा कजूस है, मक्खी चूस है।

आखिर मामला आगे बढ़ा और उस नगर के राजा जितारि के पास पहुंचा। दोनों सेठ राजा के सामने तलब किये गये। राजा ने दोनों का रंगढंग देखा और पूछा—'असली बात क्या है, सच-सच कहो।'

धनकर्मा ने कहा—पृथ्वीपाल! घर का असली मालिक मैं हूं। यह कोई धूर्त है। इसने मेरे घर में प्रवेश करके मेरी सम्पत्ति लुटा दी है।

नकली धनकर्मा बोला—महाराज, यह चार सौ बीसी कर रहा है। घर का असली मालिक धनकर्मा तो मैं ही हूं।

राजा के सामने अनेक जटिल मामले पेश हुए थे, मगर इस सरीखा पेचीदा दूसरा कोई 'केस' नहीं बना था। अतएव राजा भी चक्कर में पड़ गया कि किसे असली और किसे नकली ठहराया जाय। राजा ने अपने मत्री से परामर्श किया, मगर मंत्री ने भी घुटने टेक दिये। उसकी बुद्धि भी काम न कर सकी। इस प्रकार राजा और मत्री दोनों ही निर्णय करने में असमर्थ सिद्ध हुए। वह सोच-विचार में पड़ गये।

सयोगवश वहा धन्नाजी आए हुए थे। वे राजा जितारि के जामाता थे। पुण्यवान् के पद-पद में निधान होता है। दीपक को जहा रक्खो, वहीं प्रकाशित होता है। फूल जहा भी रहेगा, अपना स्वाभाविक सौरभ प्रसारित करेगा ही। हीरे की कणी को कहीं भी रख दीजिये, अपनी चमक दिखाये बिना नहीं रहेगी। इसी प्रकार पुण्यवान् जहा जाता है आनन्द ही आनन्द पाता है। इसके विपरीत, भाग्यहीन को जहा देखो वहीं दु:ख तैयार हैं।

तो राजा जब इस समस्या को सुलझाने में समर्थ नही हो सका तो उसने कहा—'अच्छा कु वर साहब को बुलाओ।' धन्नाजी आए और उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया गया कि—यह दोनों सेठ एक घर के स्वामी होने का दावा करते हैं। दोनों अपने-आप को धनकर्मा बतलाते हैं। धनकर्मा एक है और यह दो हैं। बस, यही समस्या है कि कौन इनमें असली है और कौन नकली है?

यह सुनकर धन्नाजी ने कहा—यह निर्णय करना तो साधारण-सी बात है।

सज्जनो! पुण्यवान् के लिए गुरुतर काम भी लघुतर हो जाता है। धन्नाजी ने सोच लिया कि इनमें एक असली और एक नकली है, परन्तु ऊपर के दिखावे से दोनों का भेद मालूम नहीं होता। इसका निर्णय बुद्धि से, युक्ति से होगा। यह सोच कर धन्नाजी ने एक टोंटी वाला लोटा मंगवाया। लोग सोचने

अपना समर्थन पाकर नकली सेठ ने कहा—अपनी खैर चाहते हो तो निकल जाओ घर से। अन्यथा खोपड़ी फोड़ दी जायगी।

असली धनकर्मा घबराया। वह लाचार और हैरान हो गया। उसने चिल्ला कर कहा—भाइयों! मैं ही असली धनकर्मा हूँ।

मगर भीड़ में से आवाज आई—नहीं, झूठ है। तुम धनकर्मा नहीं हो। असली धनकर्मा यही हैं।

उनके लिए तो असली वही है, जिसने माल खिलाया है। दोनों की शक्ल एक ही सरीखी थी। अत लोगों ने असली सेठ से कहा—तू ठग है और सेठ की सम्पत्ति पर कब्जा जमाना चाहता है।

नकली सेठ ने जनसमूह को अपने पक्ष में देखकर कहा—आप लोगों की क्या इच्छा है? मैं घर से निकल जाऊं?

लोग कहने लगे—नहीं सेठ साहब। आप मालिक हैं। आप यही रहिए। जो नकली है वह जायगा।

सज्जनो। इसी का नाम तो वृन्दावन है। लोगों ने सोचा—दोनों की शक्ल एक-सी है, पर अक्ल में फर्क है। एक ने दरिद्रों की दरिद्रता दूर की है और दूसरा कंजूस है, मक्खी चूस है।

आखिर मामला आगे वढा और उस नगर के राजा जितारि के पास पहुंचा। दोनों सेठ राजा के सामने तलब किये गये। राजा ने दोनों का रंगढग देखा और पूछा—'असली वात क्या है, सच-सच कहो।'

धनकर्मा ने कहा—पृथ्वीपाल। घर का असली मालिक मैं हूं। यह कोई धूर्त्त है। इसके मेरे घर में प्रवेश करके मेरी सम्पत्ति लुटा दी है।

नकली धनकर्मा वोला—महाराज, यह चार सौ वीसी कर रहा है। घर का असली मालिक धनकर्मा तो मैं ही हूं।

राजा के सामने अनेक जटिल मामले पेश हुए थे, मगर इस सरीखा पेचीदा दूसरा कोई 'केस' नहीं बना था। अतएव राजा भी चक्कर में पड़ गया कि किसे असली और किसे नकली ठहराया जाय। राजा ने अपने मत्री से परामर्श किया, मगर मंत्री ने भी घुटने टेक दिये। उसकी बुद्धि भी काम न कर सकी। इस प्रकार राजा और मंत्री दोनों ही निर्णय करने में असमर्थ सिद्ध हुए। वह सोच-विचार में पड़ गये।

सयोगवश वहा धन्नाजी आए हुए थे। वे राजा जितारि के जामाता थे। पुण्यवान् के पद-पद में निधान होता है। दीपक को जहा रक्खो, वहीं प्रकाशित होता है। फूल जहा भी रहेगा, अपना स्वाभाविक सौरभ प्रसारित करेगा ही। हीरे की कणी को कहीं भी रख दीजिये, अपनी चमक दिखाये बिना नहीं रहेगी। इसी प्रकार पुण्यवान् जहा जाता है आनन्द ही आनन्द पाता है। इसके विपरीत, भाग्यहीन को जहा देखो वहीं दु ख तैयार हैं।

तो राजा जब इस समस्या को सुलझाने में समर्थ नहीं हो सका तो उसने कहा—'अच्छा कु वर साहब को बुलाओ।' धन्नाजी आए और उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया गया कि—यह दोनों सेठ एक घर के स्वामी होने का दावा करते हैं। दोनों अपने-आप को धनकर्मा बतलाते हैं। धनकर्मा एक है और यह दो हैं। बस, यही समस्या है कि कौन इनमें असली है और कौन नकली है?

यह सुनकर धन्नाजी ने कहा—यह निर्णय करना तो साधारण-सी बात है।

सज्जनो। पुण्यवान् के लिए गुरुतर काम भी लघुतर हो जाता है। धन्नाजी ने सोच लिया कि इनमें एक असली और एक नकली है, परन्तु ऊपर के दिखावे से दोनों का भेद मालूम नहीं होता। इसका निर्णय बुद्धि से, युक्ति से होगा। यह सोच कर धन्नाजी ने एक टोंटी वाला लोटा मगवाया। लोग सोचने

लगे—लोटे-से ये नमाज़ पढ़ेंगे या वज़ू करेंगे ? आखिर लोटा क्या फैसला करेगा ?

मगर धन्नाजी ने कहा—आप लोग शान्त रहिए। मैं अभी निर्णय कर दूंगा।

इसके पश्चात् उन्होंने दोनों से कहा—जो इस लोटे की नली में से निकल जायगा, वही सच्चा धनकर्मा समझा जायगा। और वही घर का मालिक होगा।

यह सुनकर असली धनकर्मा के पैरों तले की जमीन खिसक गई। उसकी शक्ल के तोते उड़ गये। उसने सोचा—लोटे की नली में से मेरे जैसा आदमी किस प्रकार निकल सकता है ? और नहीं निकल सका तो मैं असली नहीं साबित होऊंगा। यह कैसी विपदा आ पड़ी। जान पड़ता है, मेरा पापकर्म उदय में आ गया है। न मैं नली में से निकल सकूंगा, न घर का मालिक बन सकूंगा।

असली सेठ ने नली में से निकलने की अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। तब धन्नाजी ने दूसरे से कहा—तुम निकल सकते हो तो निकलो।

नकली धनकर्मा ने कहा—जी हां, अच्छा अभी निकल सकता हूं। सांच को आंच कहां ?

सज्जनो। विद्या वाला बड़े का छोटा और छोटे का बड़ा रूप बना सकता है। जब असली धनकर्मा ने नकली की नली में से निकलने की तैयारी देखी तो जैसे उसका खून ही सूख गया।

इसी समय नकली धनकर्मा अपने शरीर को समेट कर छोटा रूप धारण करके नली में से निकल गया और फिर ज्यों का त्यों—धनकर्मा के रूप का—बन गया।

निर्णय हो गया। धन्ना जी ने दोनों को एक साथ खड़ा करके महाराज

जितारि से कहा—यह जो नली से निकल गया है सो नकली है और यह दूसरा असली है। इस नकली ने विद्या के बलसे धनकर्मा सेठ का रूप बना लिया है।

धनकर्मा सेठ को धन्नाजी ने जब असली घोषित कर दिया तो उसकी जान में जान आई। उसने मन ही मन में कहा—अहोभाग्य है मेरा कि भगवान् ने सुन ली। मेरी बिगड़ी बाजी बन गई।

तत्पश्चात् महाराज जितारि ने नकली सेठ से पूछा—नकली सेठ। मामला क्या है? अब सत्य वृत्तान्त सुनाओ।

तब वह बोला—महाराज यह तो निर्णय हो ही गया कि मैं नकली और यह असली सेठ है। मगर नली से निकलना आसान है, मगर पिछला वृत्तान्त बतलाना कठिन है।

राजा—आखिर बतलाओ तो सही कि ऐसी क्या बात कि यह सब खेल खेलना पड़ा?

ब्राह्मण बोला—हजूर! इस सेठ के पास साठ करोड़ का धन है। उसे जमीन में गाड़-गाड़ कर इसने सारी जमीन पोली कर डाली है। मैं गरीबी से विवश होकर, याचना करने के लिए, छह महीने से इसकी हवेली के चक्कर लगा रहा था। मगर न तो इसने फूटी कौड़ी दी और न देने से इन्कार ही किया। कल, परसों, कल, परसों करके टालता रहा। मगर मैंने भी इसका पीछा नहीं छोड़ा। आखिर यह गाव से कहीं बाहर गया और अवसर देख कर मैं घर में घुस गया। सेठानी से चाबिया लेकर मैंने निर्धनों को धन बाटना प्रारभ कर दिया। सेठ का पुण्य प्रबल था कि यह जल्दी लौट आये, वर्ना सब सफाया कर देता। फिर भी इनके पास बहुत कुछ शेष रह गया है। यद्यपि यह शीघ्र वापिस लौट आए, फिर भी लाखा-करोड़ों का धन मैंने वितीर्ण कर दिया है। पृथ्वीपाल! जिस वस्तु की जिसे आवश्यकता थी, वह उसके पास पहुच गई और जो निरर्थक पड़ी हुई थी, वह सार्थक हो गई। अगर सेठ उस धन से अपनी ममता त्याग दें तो इनका पाप हल्का हो जायगा। मैंने उस द्रव्य मे से

फूटी कौड़ी भी नहीं ली है, सिर्फ दूसरे गरीबों की गरीबी मिटाई है। सेठ ने धनोपार्जन के लिए श्रम नहीं किया है। श्रम गरीबों ने किया था। गरीबों के श्रम से संचित धन का कुछ भाग गरीबों के पास चला गया। उससे उनके अभावों की पूर्ति हुई। मैं नहीं जानता कि ऐसा करके मैंने कोई अपराध किया है।

राजा ने गरीब ब्राह्मण का वक्तव्य ध्यान और सहानुभूति के साथ सुना। यह सोचकर कि उसके राज्य में उसकी प्रजा अभावग्रस्त है और विद्वान् ब्राह्मणों को भी आजीविका के लिए कष्ट उठाना पड़ता है, राजा को लज्जा का अनुभव हुआ। आखिर राजा ने उस ब्राह्मण को क्षमादान दिया।

इधर धनकर्मा ने सोचा—'चलो, बहुत-सी पूंजी लुट गई, सो गई, मगर गनीमत है बची पूंजी का मालिक तो मैं ही रहा। कहीं यह भी चली जाती तो मुझे गली-गली भीख मागनी पड़ती, और फिर सेठानी का न जाने क्या हाल होता।' इस प्रकार धनकर्मा ने भी संतोष की सांस ली और लौट कर अपने घर आ गया।

सेठ धनकर्मा, धन्ना जी की अपूर्व और विलक्षण प्रतिभा देख कर अत्यन्त प्रभावित हुआ था। वह सोच रहा था कि धन्ना कुमार की कृपा से ही मेरी विजय हुई है। वह न होते तो मेरी बड़ी दुर्दशा होती। कुमार धन्ना धन्य है जिसने मुझे अपने गृह का स्वामी बना दिया। इस प्रकार कृतज्ञ होकर उसने अपनी कन्या गुणमालिनी धन्ना जी को ब्याह दी।

इस घटना से शिक्षा लेकर धनकर्मा सेठ ने भी दान-पुण्य आरम्भ कर दिया।

सज्जनो। कंजूसों का यही हाल होता है। वे न स्वयं खाते हैं, न दूसरों को खाने देते हैं। मगर धन दान देने के लिए होता है, जोड़ने या गाड़ने के लिए नहीं। व्यापार में घाटा हो जाय या चोर चुरा ले जाय तो कंजूस भले ही यह सोच ले कि उस गये धन का दान रूप संकल्प करता हूँ। किन्तु

ऐसा सकल्प, संकल्प नहीं है, दान नहीं है। सकल्प या दान तो तब होता जब उसने इच्छापूर्वक दिया होता।

तो सत्पुरुषों का धन दान के लिए होता है। इसी प्रकार उसकी शारीरिक शक्ति परोत्पीडन के लिए नहीं वरन् दूसरों को उत्पीड़न से बचाने के लिए होती है।

प्रारम्भ में मैंने तीन प्रकार की शक्तियों का उल्लेख किया था—पण्डित वीर्य, बालपण्डित वीर्य और बालवीर्य। इनमें से पण्डित वीर्य वाली आत्माए वे धर्मनिष्ठ साधु पुरुष हैं, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति धर्म के लिए ही समर्पित कर चुके हैं। बालपण्डित वीर्यवान् श्रावक हैं, जो अपनी कुछ शक्ति सामायिक, पौषध आदि धर्म कार्यों में लगाते हैं और कुछ शक्तिया सासारिक कार्यों में व्यय करते हैं। बालवीर्यवान् आत्माएं वह हैं, जिन्होंने कोई नियम नहीं लिया, कोई प्रत्याख्यान नहीं किया।

सत्पुरुषो। बालवीर्य तो जीव अनादिकाल से प्राप्त करता आ रहा है, किन्तु उससे आत्मा का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। यही नहीं, यह आत्मा के अध पतन का, बधन का और दु:ख का कारण हुआ है। आत्मा का एकान्त कल्याण पण्डितवीर्य से होता है। जब समग्र शक्तिया आत्मोत्थान के कार्य में सलग्न होती हैं, तभी आत्मा उन्नत होता है।

जब सभी जीव अपना उत्थान चाहते हैं और अपने आपको आनन्द में देखना चाहते हैं, तो उनकी कामना पूरी क्यों नहीं होती? कारण यही है कि वे अपनी शक्ति से दूसरों को हानि पहुचाते हैं। अतएव अपनी शक्ति को पण्डितवीर्य के रूप में परिणत करना ही आनन्द और उत्थान का कारण है। अतएव मनुष्य भव पाकर अपनी प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करो। ऐसा करने वाले परम कल्याण के भागी होंगे।

ब्यावर
१२-८-५६ }

×

५

मिथ्यात्व-महाव्याधि

वीर सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिता.
वीरेणाभिहत. स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचय' हे वीर! भद्र दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायका
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सुखाभिलाषी आत्माओ ! व्याख्यान का केन्द्रीभूत विषय 'सम्यक्त्व' है । सम्यग्दर्शन के सबध में व्याख्यान चल रहा है । यह विषय आप और हम सभी के लिए अतीव उपयोगी है, क्योंकि आत्मा जब तक सम्यक्त्व की तरफ अभिमुख नहीं हो जाती, समकित पर आरूढ नहीं हो जाती और अपने आपमें सम्यक्त्व का विकास नहीं कर लेती, तब तक विकास के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकती । यह तो सभी जानते हैं कि जिसे ऊपर की मंजिल पर जाना है, उसे नीचे की, जीने की प्राथमिक पक्तियों पर पाव रखना

होगा। अगर कोई पहले की पंक्तियों को छोड़कर ऊपर की पक्तियों पर कदम रखने का साहस करता है तो सभव है, वह गिर जाय और चोट खा जाय।

आध्यात्मिक विकास के पथ में ही नहीं, ससार के कार्यों में भी एक सिलसिला, एक नियत क्रम होता है, एक प्रोग्राम होता है कि पहले यह करना है फिर यह करना है। आप अपने दैनिक व्यवहार को ही देखिए। आप को भी दिन भर के कार्यों का एक क्रम रखना पड़ता है। आप अपने व्यावहारिक कार्यों में से उसी कार्य को प्राथमिकता प्रदान करते हैं, जो अनिवार्य है, अत्यावश्यक है और फिर इसी क्रम को सामने रख कर दूसरे-दूसरे कार्य करते हैं। मतलव यह है कि जो काम पहले करना आवश्यक है या जिसके न करने से अनेक अन्य कार्यों में बाधा पड़ने की सभावना रहती है, वह कार्य पहले किया जाता है।

कल्पना कीजिए, किसी डाक्टर के पास एक रोगी आया। वह एक ही साथ अनेक रोगों से पीड़ित है। उसके सीने मे दर्द है, पेट में दर्द है, आँखो में दर्द है, और भी अनेक रोग उठ खड़े हुए हैं। क्योंकि 'शरीर व्याधिमन्दिरम्' अर्थात् यह शरीर रोगों का घर है। न मालूम कब असातावेदनीय का उदय हो जाय और नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाएँ। डाक्टर ऐसे रोगी की जाच करता है। वह देखता है कि रोगी छटपटा रहा है, पीड़ित हो रहा है, रोग उस के जीवन को सकट में डाल रहे हैं, उसकी शान्ति को भंग कर रहे हैं और व्याकुल बना रहे हैं। अतएव वह रोगी को नीरोग करने का विचार करता है सोचता है कि मैं इसके रोगों का शमन करूँ और इसे शान्ति पहुँचाऊँ। डाक्टर रोगी के सभी रोगों को शान्त करना चाहता है, उसके शरीर में कोई भी रोग शेष नहीं रहने देना चाहता। बुद्धिमान् डाक्टर यह भी जानता है कि कई औषधियाँ ऐसी भी होती हैं कि एक साथ उनका प्रयोग किया जाय तो रोगी को उलटी हानि पहुँच सकती है। ऐसी स्थिति में सबसे पहले वह उस रोग की चिकित्सा करता है, जो खतरनाक है, जीवन का अन्त करने वाला है और जिसके ठीक हुए विना दूसरे रोग ठीक नहीं हो सकते। डाक्टर उसी प्राणहारी रोग का सर्व-

प्रथम इलाज करता है। इस क्रम से इलाज करना ही डाक्टर की बुद्धिमत्ता का प्रमाण है।

मान लीजिए, डाक्टर ऐसा न करे और खतरनाक बीमारी की उपेक्षा कर के पहले साधारण-सी बीमारी की चिकित्सा करने लगे तो क्या परिणाम होगा? ऐसा करने से बीमार अच्छा नहीं होगा और उस के प्राण नहीं बच सकेंगे। यह बात डाक्टर की बुद्धिमत्ता को प्रकट नहीं करेगी। अतएव विद्वान् और बुद्धिमान् डाक्टर सब से पहले, तत्काल प्राणलेवा रोग को हाथ में लेता है, उसी का उपचार करता है और फिर क्रमश अन्यान्य रोगों की भी चिकित्सा करता है।

हमारे तीर्थंकर भगवान् आध्यात्मिक बीमारियों के महान् कुशलतम वैद्य थे। इसका यह अर्थ नहीं कि शरीरविज्ञान उनसे छिपा हुआ था। शास्त्रों में शरीरविज्ञान का भी वर्णन आता है। अगर हमारा आहार-विहार शास्त्रानुकूल हो तो शरीर में कोई रोग-दोष न उत्पन्न होगा, न रह सकेगा। शास्त्र में ऊनोदर तप का वर्णन आया है। अगर हम इस तपस्या का सदा प्रयोग करते रहें तो बहुत-सी बीमारियों से बच सकते हैं। ऊनोदर का अर्थ है—कम खाना। कम खाने वाला मनुष्य नीरोग रहता है। कहावत है—जो ज्यादा खाता है, वही मरता है। कम खाने वाला सुखी रहता है। एक आचार्य ने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

> यो मितं भुङ्क्ते, स बहु भुङ्क्ते,
> यो बहु भुङ्क्ते स मितं भुङ्क्ते।

अर्थात्—जो थोड़ा खाता है, वह बहुत खाता है और जो बहुत खाता है, वह थोड़ा खाता है।

अभिप्राय यह है कि थोड़ा खाने वाला मनुष्य खाये हुए आहार को पूरी तरह पचा लेता है, अतएव उस आहार से रस, रक्त आदि धातुओं का निर्माण भी

अच्छा होता है और पूरी मात्रा में होता है। इसके विपरीत अधिक खाने वाले को अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वह आहार को बराबर पचा नहीं पाता। अतएव रस, रक्त आदि धातुओं का निर्माण भी नहीं होता। इस प्रकार उसका अधिक खा लेना भी अधिक लाभदायक न होकर उल्टा हानिकारक ही होता है।

तो भगवान् ने आत्मा और शरीर—दोनों के सरक्षण के नियम बतलाये हैं। आशय यह है कि हमारे वैद्यराज पूर्ण निष्णात वैद्य थे, उच्च-कोटि के आध्यात्मिक डाक्टर थे। उनसे कोई शारीरिक या आत्मिक रोग एवं उसका उपचार छिपा नहीं था। वे रोगी को देखे बिना ही और किसी दूसरे से पूछे बिना ही रोग और उसका उपचार बतला दिया करते थे।

अभिप्राय यह है कि भव-रोगों के अद्भुत चिकित्सक तीर्थंकर भगवन्तो ने, धर्मप्रवर्तकों ने यद्यपि जान लिया था कि संसारी आत्मा अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त है और सभी रोगों का इलाज करना है, सभी को समूल नष्ट करना है, फिर भी उन्होंने सब से पहले उस भयानक रोग को हाथ में लिया जो अन्य समस्त बीमारियों का जनक था, समस्त आत्मिक स्वास्थ्य का घातक था और जिसके दूर होने पर ही अन्य रोग दूर हो सकते थे।

सज्जनो! वह रोग क्या है? वह विकराल रोग मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व ही सब आध्यात्मिक रोगों का मूल कारण है। यह जन्म-जन्मान्तर से आत्मा को पीड़ित एव संतप्त कर रहा है। यह आत्मा के लिए तपैदिक की तरह भयकर रोग है। ठीक ही कहा गया है—

> मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परम तम ।
> मिथ्यात्व परम शत्रु-मिथ्यात्व परम विषम् ॥

अर्थात्—मिथ्यात्व सब से बढ कर रोग है, मिथ्यात्व से बढकर कोई अध-कार नहीं। मिथ्यात्व सबसे बड़ा आत्मा का वैरी है और सब से अधिक भयानक विष है।

मिथ्यात्व क्यों सबसे बढकर रोग, अधकार, शत्रु और विष है? इसका कारण भी बतलाया गया है —

जन्मन्येकत्र दु खाय, रोगो ध्वान्त रिपुर्विषम्।
अपि जन्मसहस्रेषु, मिथ्यात्वमचिकित्सितम्॥

रोग अधिक से अधिक कष्ट पहुँचाता है तो एक जन्म भर कष्ट पहुँचाता है। अधकार, शत्रु और विष भी इससे अधिक समय तक पीड़ा नहीं दे सकते मगर मिथ्यात्व की बात निराली है। वह एक, दो,चार, दस, जन्मों तक ही नहीं, हजारों जन्मों तक घोर दु ख देता है और उसकी परम्परा तो इतनी लम्बी चल सकती है कि लाखों और करोड़ों जन्मों की भी गिनती नहीं है। जिसपर मिथ्यात्व ऐसा रोग है कि उस पर सिविल सर्जन साहब की या राजवैद्यजी महाराज की चिकित्सा का कोई असर नहीं होता।

मिथ्यात्व रूपी तीव्रतर और भयकर रोग ऐसा है कि सर्वप्रथम उसी का इलाज होना चाहिए। इस रोग का आत्मा के अन्य रोगों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इसके सहारे असंख्य दुर्गुण रूपी रोग पनपते हैं। यह आत्मा की शक्ति को क्षत-विक्षत और नष्ट-भ्रष्ट करता है।

मिथ्यात्व मदिरा के समान है। इसका सेवन करने से आत्मा में ऐसा उन्माद उत्पन्न हो जाता है, जिससे आत्मा को अपना भान नहीं रहता। वह अपनी असली शक्तियों को भूल जाता है। यह सम्यक्त्व का प्रवल विरोधी है। जब तक वह विद्यमान है, सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। एक बार सम्यक्त्व के उत्पन्न हो जाने पर भी मौका मिलने पर वह उसका विनाश कर देता है। और जब सम्यक्त्व का नाश हो गया तो समझ लीजिए कि ज्ञान, चरित्र और तप की भी हानि हो गई। फिर तो सम्यक् क्षमा, शील, सन्तोष, विवेक और सद्विचार शक्ति आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानी पुरुष बतलाते हैं कि जैसे शरीर में कोई बड़ा रोग उत्पन्न हो जाने पर शरीर की शक्ति क्षीण होती जाती है, उसी प्रकार जब आत्मा मे मिथ्यात्व

रूपी रोग व्याप्त हो जाता है, अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है और उसके कारण जब अन्यान्य अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं तो उस आत्मा में तप-हीनता, चारित्रहीनता भी आ जाती हैं, उसकी विवेकशक्ति भी चली जाती है।

ऐसे समय में, जैसे शरीर में उत्पन्न हुए अनेक रोगों में से सर्वप्रथम उसी रोग का प्रतीकार किया जाता है जो जीवन को खतरे में डालने वाला हो, प्राणहारी हो और जिसके कारण वे अनेक रोग उद्‌भूत हुए हों। ठीक इसी प्रकार आत्मा में एक साथ अनेक रोगों ने जड़ जमा रक्खी है। आत्मा की अनेक भूलें और त्रुटियाँ आत्मा के असली स्वाभाविक स्वरूप को क्षत-विक्षत कर रही हैं, जीवन-धन को निष्फल बना रही हैं, जीवन के सर्वस्व को लूट रही हैं, मगर उन सब में से पहले मिथ्यात्व का इलाज करना चाहिए। जो वैद्य मिथ्यात्व पर काबू पा लेगा, उसके लिए अन्य छोटे-मोटे रोगों पर काबू पा लेना कठिन नहीं होगा।

मगर मिथ्यात्व रूपी महारोग का निवारण होना ही बहुत कठिन है। यह कोई मामूली बात नहीं है। दो-चार दिन का ज्वर भी सरलता से नहीं निकलता तो जिस मिथ्यात्व ने अनादि काल से आत्मा पर कब्जा जमा रक्खा है, उसे हटा देना क्या हँसी-खेल है? हाँ, कोई असाधारण वैद्यराज मिल जाय और वह कोई असाधारण ही दवा दे तो कुछ काम बन सकता है। मगर काम बनेगा तभी जब रोगी पथ्य से रहेगा, परहेज करेगा। अगर उसने परहेज न किया, और तेल, गुड़, तथा खटाई जैसी विकारकारी वस्तुओं का सेवन बंद न किया और लाल बाईजी (जीभ) को सयम में न रक्खा तो कोई विशेप लाभ नहीं होने वाला है। फिर परिणाम बुरा ही निकलेगा। अगर ऐसा हो तो बेचारे अनुभवी वैद्य का भी क्या दोप है?

मनुष्य जीभ की थोड़ी-सी लोलुपता के वशीभूत होकर अपने जीवन को खो बैठता है। मनुष्य जिन बीमारियों का शिकार होता है, उनमें से अधिकाश का कारण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जिह्वा-लोलुपता ही है। प्राय लोग अपनी

जीभ को संयम में नहीं रख पाते और रोग के शिकार बन जाते हैं। श्री उत्तराध्ययनसूत्र के सातवें अध्ययन में कहा है—जिस साधु का रसनेन्द्रिय पर काबू नहीं होता, अनुशासन नहीं होता और जो जीभ का गुलाम होता है, जो जबान मागे वही उसे खाने को दे देता है, वह महान् लाभ खो बैठता है। इस संबध में एक उदाहरण भी आया है —

एक राजा के शरीर में भयानक रोग हो गया। उसकी चिकित्सा करने के लिए बडे-बडे चिकित्सक आये। आप जानते ही हैं कि प्राय चिकित्सक भी राजा, महाराज, सेठ, साहूकार या मालदार मनुष्य का इलाज करने में अपना अहोभाग्य समझते हैं। वे जानते हैं कि मोटी मुर्गी फंसी है तो मनचाहा धन मिलेगा, प्रतिष्ठा बढ़ेगी और उस प्रतिष्ठा के सहारे बहुत-से सम्पत्तिशालियों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा। हमारा भविष्य चमक उठेगा।

हा, तो चिकित्सकों ने राजा को तरह-तरह की दवाए दीं। परन्तु शान्ति होने के बदले अशान्ति बढती ही गई। वास्तव में चिकित्सक रोग के मूल कारण को नहीं समझ सके थे। आखिर सभी चिकित्सक निराश होकर लौट गये। दैवयोग से उस नगर में घूमते-घूमते एक परदेसी वैद्य आ गए। प्राय परदेसी वैद्य रोगी का लिहाज़ नहीं करते। वे अधिक लोभ-लालच या आकर्षण के वशीभूत नहीं होते और रोगी को सही सलाह दे सकते हैं।

तो वैद्यजी को राजा के असाध्य रोग का पता चला। उसने सुना—राजा के यहा सभी साधन उपलब्ध हैं। रानिया हैं, आज्ञाकारी पुत्र हैं, कर्मचारी गण हैं। भोगविलास की समग्र सामग्री विद्यमान है, मगर राजा रोग से पीडित होने के कारण उन सब को देख-देख कर और अधिक दुखी होता है। वह किसी भी सुख के साधन का उपभोग करने मे असमर्थ है।

सुख सोलह प्रकार के बतलाये गये हैं। उनमे सबसे पहला सुख निरोगी काया और दूसरा सुख घर में माया है। परन्तु जब काया निरोगी नहीं होती तो माया भी राक्षसी की तरह खाने को दौड़ती है, विकराल प्रतीत होती है और

संताप प्रदायिनी हो जाती है। जिसके शरीर में रोग हो, वह करोड़पति ही क्यों न हो, मगर करोड़ों का धन भी उसके लिए किस काम का है? जो माचे पर पड़ा-पड़ा सड़ रहा है, और कराह रहा है और छटपटाता हुआ जिंदगी को अभिशाप की तरह भोग रहा है, उसके लिए विपुल ऋद्धि-सिद्धि भी किस काम की है? वह रोगी के काम नहीं आ सकती। इसकी अपेक्षा तो उस मजदूर की जिन्दगी हजार गुनी अच्छी है, जो रोज कमाता है, रोज खाता है और वेफिक्री के साथ चादर तान कर सोता है। मगर आजकल के सेठजी की क्या स्थिति है? नींद आने के लिए मोरेफिया के इंजेक्शन लगाये जाते हैं, जिनका असर भी अस्थायी होता है और अवधि समाप्त होते ही फिर लगवाने पड़ते हैं।

हां, तो उन राजा साहब की तरफ ध्यान दीजिए। वे बीमार थे और एक परदेशी वैद्य वहां आ पहुंचे। वे राजा के पास ले जाये गए। वैद्य कुशल थे और अनुभवी थे। उन्होंने पहले तो यह जांच की कि शरीर में रोग क्या है और रोग की उत्पत्ति का कारण क्या है? वास्तव में रोग को ठीक तरह जान लेना ही कठिन है। रोग की पहिचान हो जाने पर चिकित्सा करना कठिन नहीं होता।

मेरठ में एक हकीम साहब थे। वे टांगों से चल नहीं सकते थे, मगर बड़े पक्के नब्जवाज़ थे। नाड़ी के चतुर परीक्षक थे। आजकल डाक्टर, वैद्य और हकीम रोगी से पहले पूछते हैं कि क्या-क्या खाया? क्या दुखता है? आदि-आदि। जब चिकित्सक रोगी से इस प्रकार पूछता है तो वह मां का पूत स्वयं क्या देखने आया है?

तो मेरठ वाले हकीम केवल नब्ज देखकर ही रोग का निदान कर देते थे। वे दवा नहीं देते थे। रोगी को दिखाने के लिए लोग डोली में बिठला कर उन्हें ले जाते थे और वापिस पहुंचा देते थे। वह हकीम सिर्फ रोगियों को देखने से ही मालामाल हो गया था!

इस प्रकार रोग को पहचानना ही कठिन है। दवा तो फिर तैयार ही है। तो उस परदेशी वैद्य ने राजा का रंगढग देखा, नाड़ी देखी और बीमारी पहचान ली।

राजा को आम खाने का बड़ा शौक था। वैद्य ने उससे कहा—राजन्! आपका रोग असाध्य नहीं है। समुचित चिकित्सा से वह दूर हो जायगा। किन्तु मेरे बतलाये परहेज का पूरा-पूरा पालन करना होगा। इसके लिए आप तैयार हों तो चिकित्सा कर सकता हूँ।

राजा ने कहा—आप जैसा कहेंगे वैसा ही करूंगा। आखिर बीमारी को नष्ट करना ही है।

जब गर्ज होती है तो लोग सभी कुछ मान जाते है। कहते हैं—आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं होगा। मगर अवसर आते ही अपनी प्रतिज्ञा को ताक में रखते भी देर नहीं करते।

राजा को नीरोग होना था, अतएव उसने वैद्य की बात स्वीकार कर ली। वैद्य ने चिकित्सा आरम्भ कर दी और राजा को स्वस्थता का अनुभव होने लगा। जो राजा जीवन को विपत्ति समझ रहा था, घोर वेदना का अनुभव कर रहा था और न चाहता हुआ भी विवश होकर मोत को न्योता देकर बुला रहा था वह आनन्द और शान्ति का अनुभव करने लगा और दीर्घ जीवन की कामना करने लगा। उसने वैद्य के प्रति गहरी कृतज्ञता प्रदर्शित की। कहा—आपने मुझे नारकीय जीवन से निकाल कर स्वर्गीय जीवन का अनभव कराया है। स्वस्थता के अभाव मे यह राजपाट और सुख साधन सभी बेकार थे। शास्त्रकार फर्माते हैं—

सव्वं विलवियं गीय, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ, १३, गा, १६।

यह गाने कब तक सुमधुर प्रतीत होते हैं ? जब तक शरीर में स्वस्थता है, शान्ति है तभी तक यह रेडियो और गायन भले लगते हैं। सगीत सुनने को कान तड़फते हैं। यदि शरीर में रोग अड्डा जमा ले तो उसके लिए छत्तीस रागिनिया भी दुखदायिनी वन जाती हैं। रोगी के सामने वत्तीस प्रकार के नाटक किए जाए और नाच कूद किया जाय, तो भी उसका मनोरंजन नहीं हो सकता। उलटे वे उसके हृदय को सताप पहुंचाते हैं। उसे वे गाने विलाप के समान और नाटक विडम्वना मात्र जान पड़ते हैं।

वीमार को वहुमूल्य आभूषणों से भूषित कर दिया जाय तो क्या उसकी तवियत खुश हो सकेगी ? उसके चित्त मे आमोद का अश भी उत्पन्न हो सकेगा ? नहीं, वह आभरण उसे भार रूप प्रतीत होंगे। वीमार की वात छोड़ दीजिए, आजकल शिक्षित और सुसंस्कृत मनुष्य आभूषणों को पसद नही करते। वस्तुत ऊपर से लादे हुए आभूषण मनुष्य के नैसर्गिक सौन्दर्य को विकृत कर डालते हैं। अत वे सौन्दर्य वर्धक नहीं वरन सौन्दर्य विघातक होते हैं। परन्तु इन वहिना को शायद यह वात अच्छी नहीं लगेगी। यहा कई वहिनें भूषण पहन कर छम छम करती आती हैं। इससे व्याख्यान में भी कभी-कभी क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। कितने ही अनियत्रित श्रोताओं की दृष्टि भग हो जाती है आभूषण लादने की ऐसी प्रथा पजाव मे नहीं है। वहा की वहिनों का पहनावा चुस्त और दृढ़ होता है जो कि होना भी चाहिए। उधर घूघट का रिवाज भी यहा जेसा नहीं है। यहा की वाइया घूघट के कारण ठीक तरह देख भी नहीं पातीं। एक दिन हमारे साथ के एक साधु गोचरी गए तो एक वाई ने घूघट के कारण रोटी, दाल मे डाल दी। खैर, यह तो फिर भी ठीक है। दाल के वदले कहीं पानी में डाल देती तो स्वामी जी का आयविल ही हो जाता।

भाइयो ! यह एक अनावश्यक कुरूढ़ि है, जिसके पीछे कुछ भी वास्तविक भावना नहीं है।

तो मैं कह रहा था कि यह आभूषण कब तक सुहावने प्रतीत होते हैं ? जब तक शरीर में शान्ति हो। इन बहिनों को जरा-सा बोझ उठाने को कहो तो आनाकानी करेंगी और सोने की पसेरी भले ही गले में लटकाए फिरेंगी। पद्गलों की यह एक विशेषता है कि वे मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। परन्तु जब तक शरीर में आरोग्यता है तभी तक वे ऐसा कर सकते हैं। शरीर जीर्ण हो गया हो, अशक्त हो गया हो और वस्त्रों का बोझ उठाने में भी असमर्थ हो गया हो तो आभूषण अच्छे नहीं लगते।

तो सब नाच, गान, राग-रागिनी आदि आरोग्य की स्थिति में ही अच्छे लगते हैं। रुग्ण होने के समय राजा के गाने-बजाने के सब साज-बाज उलटे पड़े थे और राजकीय सगीताचार्य भी अपना मुँह बद किये बैठे थे, किन्तु जब राजा निरोग हो गया तो सब के मुँह खुल गये और सब वही राग अलापने लगे। राजा अपने आपको कृतकृत्य और धन्य मानने लगा कि आज पुन मैं स्वर्गीय सुखों को भोगने में समर्थ हो सका।

सज्जनो। दु ख जीवन को प्रतिकूल है, मन को प्रिय लगने वाला नहीं है। सुख प्रिय है, अनुकूल है और मन को भाता है, लुभाता है। अन्तरग कारण सातावेदनीय कर्म के उदय से और बहिरंग कारण वैद्य के अनुग्रह से राजा को नीरोगता प्राप्त हुई और व्याधि दूर हो गई। राजा ने वैद्य का खूब सम्मान किया, आभार माना और यथायोग्य भेंट देकर विदा किया।

भाइयो। घूमने वाले वैद्य एक जगह नहीं रहते हैं। जब वह वैद्य जाने लगा तो राजा को उसने एक शिक्षा दी। कहा—यदि जीवन के शेष दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत करना चाहते हो तो इस लाली बाई को वश में रखना और भूल-चूक कर भी आम नहीं खाना।

हिदायत सुनते ही राजा ने पूछा—क्या आम नहीं खाना ?

वैद्य ने कहा—हाँ आम खाना त्यागना पड़ेगा। इस बीमारी में आम खतरनाक है। जहर के समान है। याद रखिए, कदाचित् आम खा लिया तो

फिर बीमारी का इलाज होना असभव हो जायगा और प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे।

इस प्रकार सूचना करके वह वैद्यराज चले गये, क्योंकि वे रमते राम थे। राजा आमोद-प्रमोद में जीवन यापन करने लगा, जब कि उसे पहले एक-एक रात ब्रह्मा की रात जैसी प्रतीत होती थी। सुख में तैंतीस-तैंतीस सागरोपम काल भी स्वप्न की तरह गुजर जाता है। दु ख में घड़ी-पहर बिताना भी भारी पड़ जाता है। रो-रो कर, झींख-झींख कर भी समय बीतता नज़र नहीं आता। किन्तु कृत कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा भी तो नहीं मिलता। एक जीव पुण्योदय से २६ वें देवलोक का देवता बनता है और सुखों में तल्लीन हो जाता है। तैंतीस हजार वर्ष बीत जाने पर उसे एक बार भूख लगती है। यह भगवान् के वचन हैं। ठोस और सारवान् पदार्थ थोड़े भोगे जाते हैं, फिर भी वे अधिक देर तक तृप्तिप्रदायक होते हैं। एक ने चावल खाए और दूसरे ने बादाम का हलुवा खाया। तो चावल अपनी तारीफ करता हुआ कहता है—

चावल कहे मेरा उज्ज्वल खाना,
मेरे भरोसे कहीं नहीं जाना।

चावल हल्का भोजन है, अतएव जल्दी हज़म हो जाता है और शरीर को अधिक बल नहीं देता। बादाम का हलुवा भले ही अल्प मात्रा में लिया जाय, किन्तु वह ठोस है, शक्ति वर्धक है, अधिक बलदायक होता है।

इसी प्रकार ठोस पुद्गलों से बनाई हुई इमारत ज्यादा समय तक टिकती है, अन्यथा जल्दी गिर जाती है। तो देवताओं का आहार भी सारयुक्त होता है। वे वासना के भूखे होते हैं। देवता दो प्रकार का आहार करते हैं—ओजाहार और रोमाहार। देवता भी रोम-आहार लेते हैं और हम भी रोम से आहार ले रहे हैं। अनन्त-अनन्त पुद्गल प्रति समय ले रहे हैं और छोड़ रहे हैं। हम आहार के लिए जितने पुद्गलों को ग्रहण करते है, उन सब का आहार नहीं

कर पाते। उनमे से बहुत-से पुद्गल निकल जाते हैं। अनन्तवाँ भाग ही ऐसा होता है जो आहार के रूप में परिणत होता है।

प्रश्न हो सकता है कि जो पुद्गल आहार के लिए ग्रहण किये गये हैं, वे सब के सब आहार रूप में परिणत क्यों नहीं होते? इसका उत्तर यह है कि ग्रहण किये हुए पुद्गलों मे कोई जघन्य स्थिति वाले, कोई मध्यम स्थिति वाले और कोई उत्कृष्ट स्थिति वाले होते हैं। पुद्गलों की जघन्य स्थिति एक समय की और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की है। जीव जो पुद्गल ग्रहण करता है, उनमे भी कितनेक पुद्गल एक समय आदि स्थिति वाले होते हैं। वे पुद्गल आहार करते-करते क्षीण हो जाते हैं। यही कारण है कि सब पुद्-गल आहार रूप में परिणत नहीं हो पाते। यह विषय बड़ा सूक्ष्म है। विशेष ध्यान देने पर ही समझ में आ सकता है।

आशय यह है कि जीवन तो गुज़रने को ही है। दुःख के दिन भी बीत जाते हैं और सुख का समय भी व्यतीत हो जाता है। किसी का समय सुख में तो किसी का दु ख में गुजरता है। ससार सुख-दु खमय है। और यहाँ दु ख से ही सुखका मूल्य है। दु ख न होता तो सुख का स्वाद ही न रहता।

हाँ तो तेंतीस सागरोपम की आयु वाले देवों को तेंतीस हजार वर्ष बाद भूख लगती है। यहाँ तो आलू, कचालू, पिण्डालू आदि की चाट और हलुवा आदि नाना प्रकार के मिष्टान्न खाये जाते हैं, किन्तु देवता तो वासना के ही भूखे होते हैं। वे रोम-आहार करते हैं और ओज-आहार करते हैं। जब ओज-आहार खत्म हो जायगा तो उनकी जिन्दगी भी खत्म हो जायगी। इस प्रकार जैसे सुख का समय बीत जाता है, उसी प्रकार दु ख का समय भी बीत जाता है। जगत् में यह परिवर्तन निरन्तर चलता रहता है। गाड़ी के पहिये की तरह सुख-दु ख का परिवर्तन हो रहा है। मगर मनुष्य जान-बूझ कर भी अनजान बना रहता है। सुख के समय ऐसा उन्मत्त हो जाता है कि उसे भावी या भूत दु ख की स्मृति ही शेष नहीं रहती। समझता है—संसार मे दुःख है ही नहीं,

अथवा दु ख है तो दूसरों के लिए है, मेरे लिए तो सुख ही सुख है। इस मोह में पड़ा मनुष्य गाफिल हो जाता है। उसी समय प्रकृति का एक थपेड़ा पड़ता है और उसका मोह भग हो जाता है। सुख के स्थान पर दु.ख का सागर लहराने लगता है।

तो उस राजा के दिन सुख में गुजरने लगे। वह अपने अतीतकालीन दु खों को, रोग-जनित वेदनाओं को भूल गया। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों दुनिया में दु ख की कोई सत्ता ही नहीं है।

एक वार आम का मौसम आया। जव वढिया आम पक गये तो वाग के माली ने सुन्दर-सुन्दर आम राजा की सेवा में भेट किये। राजा उन सुन्दर सुगधित, सुस्वादु आमों वो देख कर कहने लगा—वड़े वढ़िया आम हैं।

राजा आम का लोलुप था। आम देख कर उसका मन मचल उठा। जीभ लपलपाने लगी और मुँह में पानी आ गया। वह आमों में आसक्त हो गया। वास्तव में आसक्ति ही अनेक अनर्थों का मूल है। जो किसी भी वस्तु पर आसक्त नहीं होता, वही ससार में शान्ति का अनुभव कर सकता है। राजा आमों को देखकर विचलित हो गया। उसी समय उसे वैद्यराज की हिदायत याद आ गई। मन में आया—नहीं, यह आम मेरे काम के नहीं, मेरे स्वास्थ्य के लिए ये विष के समान हैं।

परन्तु फिर मोह का पलड़ा भारी हुआ। मन ने पुन पलटा खाया। वह सोचने लगा—अच्छा, खाऊँगा नहीं, देख तो लूँ।

राजा ने आम अपने हाथ मे उठा लिया और कहा—अहा! कितना सुन्दर आम है।

फिर सोचा—वैद्यजी ने खाने के लिए मना किया था—सूघने के लिए तो कुछ नहीं कहा। सूंघ लूँ तो क्या हानि है।

यह सोच कर राजा आम को अपनी नाक के पास ले गया और वार-वार उसकी मनोज्ञ सुगन्ध सूघने लगा।

राजा कहता है—आहा ! कैसी मीठी-मीठी सुगन्ध आ रही है ! नीतिकार कहते हैं —

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुख. ।

अर्थात्—जो एक बार विवेक से च्युत हो जाता है, उसका शतमुख अध.-पतन होता है । वह जो गिरना आरम्भ करता है तो धीरे-धीरे गिरता ही जाता है ।

आम की सुगन्ध सूघने से राजा का चित्त और अधिक चलायमान हुआ उसने सोचा—ज्यादा न खाऊँ थोड़ा-सा खा लूँ तो क्या बड़ी हानि हुई जाती है । इस प्रकार विचलित हो कर उसने आम खा लिया । जब एक आम खा लिया तो लाली बाई को लपक पड़ गई और वह राजा के मन को अधिकाधिक विचलित करने लगी । राजा से रहा नहीं गया । वह इन्द्रियों का दास बन चुका था । उसके लिए आम का प्रलोभन त्यागना कठिन हो गया ।

अहा ! यह इन्द्रियाँ कितना गजब ढा रही हैं । आत्मा को कितना सता रही हैं । इन्होंने आत्मा पर पूरी तरह कब्जा जमा रक्खा है । इनमें से भी रसना इन्द्रिय को जीतना तो और भी कठिन है । इस रसना ने न जाने कितने साधकों को साधना से भ्रष्ट कर दिया है । यही रसना अन्य इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करके बलवती बनाने वाली है । जिसने इसे जीत लिया, उसके लिए अन्य इन्द्रिया को जीतना कठिन नहीं । और जो रसना का दास है, वह अन्य इन्द्रियों को भी नहीं जीत सकता । इन्द्रियों को जीतने से द्रव्यलाभ भी होता है और भावलाभ भी होता है ।

राजा ने अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण, रसना के वशीभूत होकर आम खा लिया । मर्यादा भग कर दी । जब एक बार मर्यादा टूटती है तो टूटती ही चली जाती हैं । इस कथन के अनुसार जब उसने आम खाया तो थोड़ा नहीं खाया । डट कर खाया । मगर उसका परिणाम बड़ा भयानक हुआ । आम का बाह्य निमित्त मिलने से असातावेदनीय कर्म उदय में आ गया । रोग

की पुन उत्पत्ति हो गई। राजा इस वार पहले की अपेक्षा भी अधिक बीमार हो गया। राजा ने बहुत-से वैद्य बुलाए। अपने पेट को औषधालय बना लिया, मगर बीमारी न मिटी सो न मिटी। वह बढती ही चली गई।

राजा ने उन्हीं परदेशी वैद्य की तलाश करवाई। वह तो संयोग वश अचानक ही वहा जा पहुंचे थे और राजा को स्वस्थ भी कर गये थे। किन्तु उसने उनकी बात नहीं मानी, परहेज नहीं रक्खा। फल यह हुआ कि अब मौत की नौबत आ पहुंची। ढू ढने पर भी वैद्यराज का कहीं पता न लगा।

सज्जनों! वैद्य जो कुछ कहता है, रोगी के भले के लिए ही कहता है। मानोगे तो सुख शान्ति पाओगे, नहीं तो दु ख उठाओगे, वैद्य का क्या बिगड़ने वाला है? उस ने तो भलाई का उपाय बता दिया कि बच्चा, इस चीज का सेवन मत करना। यह चीज तेरी जिन्दगी को खत्म कर देगी।

भाइयो! कलह भी एक भयानक रोग है। जिस देश, समाज जाति या सघ में यह व्याप्त हो जाता है, उसी को ले डूबता है। आप का यह रोग चला गया था, मगर रोगी को जरा परहेज से रहने की आवश्यकता थी। किन्तु

अरे भाइयों! रोग चला गया तो क्या हुआ? वेदनीय कर्म तो सत्ता में था। अथवा रोग उपर से तो चला गया, मगर उसके अकुर तो भीतर विद्यमान थे। निमित्त पाकर के उभर आये—उदय में आ गए और उन्होंने पुन रोग को उत्पन्न कर दिया। वेदनीय कर्म जल्दी पिण्ड नहीं छोड़ता। तेरहवें गुणस्थान मे कैवल्य दशा प्राप्त हो जाने पर भी, उसका उदय बना रहता है।

तो जगत् के जीव अपनी ही मूढता के कारण दु खो के पात्र बन रहे हैं और उस मूढता की जननी मिथ्या दृष्टि है। जब तक जीव में मिथ्यात्व बना हुआ है, तब तक दु खों का अन्त कदापि नहीं हो सकता।

आज मैं बाहर जा रहा था। आपके यहा कपड़ा बाजार में जो खेजड़ा है, उसके पास कोई देवस्थान है। मैं ने देखा एक बूढा भक्त वहा मत्था रगड़ रहा था। मुझे देख कर और 'तिक्खुतो आयाहिण पयाहिण' बोल कर झटपट

कह उठा 'घणी खमा वाव जी !' यह देख मैंने सोचा—इस खमा घणी का क्या तात्पर्य है ? कितनी अन्धश्रद्धा, मिथ्यात्व और अज्ञानता भरी पड़ी है बूढ़ों में भी ! अभी तक उस बूढे को पता नहीं कि वह किस के आगे क्या कर रहा है ? यहा मत्था टेकने से क्या लाभ है ? कोई महात्मा साधु वृद्ध पुरुष या कोई श्रेष्ठ पुरुष मिल जाय और शिष्टाचार के नाते उसे हाथ जोड़ लिए जाए तो बात दूसरी है, परन्तु इस प्रकार हाथ जोड़ना एक विवेकवान् पुरुष के लिए कहा तक उचित है ? मगर सज्जनो ! मिश्रपथी वहुत हैं। अभी उन्हें पता ही नहीं है कि समकित किस चिड़िया का नाम है।

भाइयों ! तुमने कितनी ही मालायें तोड़ दीं परन्तु वास्तविक सम्यक्त्व को न प्राप्त कर सके, यहा तक कि उसे समझ भी न सके। इसी कारण मुझे वार वार सावधान करना पड़ता है। वास्तव में मिथ्यात्व का रोग वहुत अधिक फैला हुआ है।

आप को स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक शरीरधारी में सातावेदनीय और असातावेदनीय दोनों विद्यमान हैं। अगर रोग शरीर में व्याप्त हो गया है और उसका इलाज जल्दी करा लिया तो यह शान्त हो सकता है। मगर उसकी जड़ तो तभी नष्ट होगी जब वैद्यराज के वतलाए परहेज का पूर्ण रूपेण पालन करोगे। अगर वायदा खिलाफी की, परहेज तोड़ दिया और इच्छानुसार काम करने लगे तो ऐसा करना तुम्हारे ही हक में अच्छा न होगा। विवश होकर फिर वैद्यराज से प्रार्थना करनी पडेगी। उस हालत मे किस मु ह से विनती कर सकोगे ? हा, परहेज से रहे और उनके वतलाए नियमों का पालन किया तो वे फिर आ भी सकते हैं। अगर यही हाल रहा तो फिर भगवान् ही आप का भला करे।

सज्जनो ! समय चला जाता है और वात रह जाती है। मनुष्य को अपना जीवन संयममय वना कर चलना चाहिए। असयम के कारण पग-पग पर ठोक खानी पड़ती हैं।

हा, तो उन वैद्यराज को खोजा गया, पर उनका पता नहीं चला। वे कहीं से कहीं चले गये। ब्यावर वालों! राजा को उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने का दुष्परिणाम भोगना पड़ा। राजा ने परहेज तोड़ दिया, नियम को भग कर दिया और वैद्य की आज्ञा न मानी तो उसी का दारुण परिणाम भुगतना पड़ा। उसे राजपाट, महल, अटारी, आज्ञाकारी अनुचर और परिवार से पृथक् होना पड़ा। प्राणों से हाथ धोने पड़े और परलोक के पथ पर प्रयाण करना पड़ा।

सज्जनों! वह राजा तो आम खाने के कारण एक ही जीवन में मरा, मगर जो अनन्त करुणासिन्धु, परहितकर तीर्थंकर भगवान् रूपी वैद्यराज की आज्ञा का उल्लघन करते हैं, शास्त्रों के आदेश की अवहेलना करने में संकोच नहीं करते, उन्हें तो अनन्त वार ससार में जन्म-मरण करना होगा।

ससार के जीव क्यों कष्ट उठा रहे हैं? इसीलिए कि वे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रदर्शित पथ पर नहीं चलते और उससे विपरीत मार्ग पर चलते हैं। उन्होंने अनादि काल से लेकर अब तक अनन्त-अनन्त भव धारण किये हैं, किन्तु एक भी जन्म में अगर भगवान् की आज्ञा का पालन कर लिया होता तो बेड़ा पार हो जाता। मगर आज्ञा का पालन वही करते हैं, जिनका कल्याण होने वाला हो। जो तीव्र अशुभ कर्मों के वशीभूत हो रहे हैं और निकट भविष्य में जिनका कल्याण नहीं होना है, वे कब भगवान् के आदेश को शिरोधार्य कर सकते हैं? कहावत प्रसिद्ध है कि—

विनाशकाले विपरीत बुद्धि।

अर्थात् जब अशुभ होने वाला होता है तो बुद्धि भी उलटी हो जाती है।

राजा ने रस के प्रलोभन में फस कर आम खा लिए। न खाता तो क्या विगड़ जाता? बिगड़ता तो कुछ भी नहीं उलटा विगाड़ न होने पाता। जीवन तत्काल नष्ट न होता। मगर मनुष्य के खोटे दिन आने वाले होते हैं तो उसमें अनेक दुर्गुण आ जाते हैं।

किसी ने ठीक ही कहा है —

मौत जब नज़दीक आती है किसी इन्सान की।
नष्ट हो जाती है शक्ति, आँख की और कान की॥

यह फकीर की खुली पुकार है, स्पष्ट घोषणा है कि जब मनुष्य के खोटे दिन आते हैं तो नेक विचार उस अभागे मनुष्य का साथ छोड़ देते हैं ।

लम्बे-लम्बे फलों वाले केले के वृक्ष से कवि कहता है— ऐ कदली ! तेरे लिए हँसने का कोई कारण नहीं, खुशी का को प्रसग नहीं है । यह जो फल लगे हैं, तुझे काटने के लिए लगे हैं ।

आपको मालूम होगा कि जब केले आ जाते हैं तो लोग केले लेकर उस पडे को कलम कर देते हैं ।

आम तौर पर बास के फल नहीं लगते हैं । किन्तु किसी-किसी बास के कभी-कभी सिट्टा लगता है और उसमें बीज पड़ जाते हैं । तो बास के लिए यह अभिमान की बात नहीं । खुशी का कारण नहीं । वे उसके अस्तित्व के लिए सकटजनक हैं, उसे मिटाने आये हैं । जिस बास में सिट्टा लगता है, वह निश्चित रूप से खड़ा-खड़ा ही सूख जाता है । बास के बीडे होते हैं सौ-सौ और दो-दो सौ के । किन्तु जिनमें सिट्टा लगता है, वे आप ही आप समाप्त हो जाते हैं ।

अफसोस है कि वे दो-चार कम्बख्त बास खडे-खड़े ही सूख गये । वे ज्येष्ठ-आषाढ मे सूख जाते तो अफसोस नहीं था, किन्तु ज्यादा अफसोस तो इस बात का है कि जब मेदिनी नूतना कुल-वधू की तरह सब्ज ओढनी ओढ कर अपनी निराली छटा दिखला रही है, सावन की बहार है और सूखने जा रहे वृक्ष भी नवजीवन पाकर हरे-भरे हो गये हैं, वहाँ ये सूख रहे हैं । इतनी वर्षा होने पर भी अगर वे सूख रहे हैं, तो इससे बढ कर उनका दुर्भाग्य और क्या होगा ?

चलो । वे सूख गये तो सूख गए । किसी के भवितय को कौन टाल सकता है ? मगर उन दो-चार मे भी जोरों की रगड़ लग रही है और टक्कर हो रही है

और उस टक्कर से अग्नि की ज्वालाएँ फूटी पड़ती हैं। तो वे खुद तो जल ही रहे हैं, अपने आस-पासके सैकड़ों हरे-भरे खड़े बासों के अस्तित्व को भी विपत्ति मे डाल रहे हैं। इस प्रकार वे 'आप डुबन्ता पाड़े, ले डूबे जजमान' की कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। यही तो दुर्भाग्य की बात है।

तो मैं कहने जा रहा था कि मनुष्य में जब दुर्भावना आ जाती है, क्लेश, कदाग्रह, द्वेष, ईर्ष्या और जलन उत्पन्न हो जाती है और दूसरों को नीचा तथा अपने को ऊँचा प्रकट करने की तुच्छ भावना का जन्म हो जाता है, तो समझ लो कि उनका आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों अवश्य विनाश काल उपस्थित होना है।

बास के फल लगना उसके और उसके आस-पास वालों के लिए दुर्भाग्य का सूचक है। अतएव भद्र पुरुषो। नौनिहालो। सुखाभिलाषियो। स्मरण रक्खो, कोई किसी की मानहानि करके, अपना मान नहीं बढा सकता। जो दूसरे को नीचा दिखाते हैं, उन्हें स्वय नीचा देखना पड़ता है। जो दूसरों को तुच्छ समझते हैं, वे स्वयं तुच्छ होते हैं।

जो मनुष्य पहाड़ की ऊँची चोटी पर चढ जाता है और नीचे की ओर दृष्टि डालता है तो नीचे के मनुष्य उसे कीड़े-मकोडे जैसे दिखाई देते हैं। वह अपने को देखता है तो नौगजा नजर आता है। यह देख कर वह अभिमान के शिखर पर भी आरूढ़ हो जाता है। किन्तु अपनी दृष्टि को सँभाल, अभिमानी ओ टीले पर खड़े होने वाले ऐ हिमालय के उतुंग शिखर पर आरूढ होने वाले। अरे उच्च गिरिशृंग से बातें करने वाले तुझे पहाड़ की तलहटी मे खड़े हुए लोग कीड़ो-मकोड़ों जैसे नजर आते हैं, किन्तु भूल मत जा, फूल मत जा। दुनिया मे उधार का काम नहीं है। उन नीचे वालों को भी तू मच्छर जैसा नजर आ रहा है। यह तो चट रोटी और पट दाल वाला सौदा है। 'इस हाथ दे उस हाथ ले' की कहावत है।

तो मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ आपको और आप गाठ बाँध लें कि जो अहकार के वशीभूत होकर, जात-पाँत की वजह से दूसरे भाइयों को अपने से हीन समझते हैं, और अपने को ऊँचा मानते हैं, उन्हें नीचा देखते देर नहीं लगेगी। समय आएगा और उन्हें अपने इस विवेकविहीन व्यवहार के लिए पश्चात्ताप करना होगा। किसी कवि ने ठीक ही कहा है —

करनी कर गया स्वर्ग आठवें,
रचना देख भूल गए ठाठ मे,
वह भी सुख ना रहे हाथ मे,
चवि आवे सूरी कू ख मे ॥
कर्मों देखो कहां पट का,
क्यों फिरे विषय मे मटका,
जरा कर हिरदे थे ज्ञान। क्यों फिरे ० ॥

कर्मों से शहनशाह बन जावे,
सिर मोतियाँ का ताज धरावे।
वहाँ से मर भगी घर आवे,
सिर टोकरा विष्टा वैष्णव का,
है यही कर्मों का खटका। क्यों फिरे० ॥

ऐ जात्यभिमानियो! गोत्राभिमानियो! तुम किस अभिमान में हो! किस मलाल में हो? उस नक्शे को बदलते देर नहीं लगती। यह पलड़ा ऊँचे का नीचा और नीचे का ऊँचा होता ही रहता है। एक जीव करनी करके आठवें देवलोक में चला गया। वहाँ रत्नों के विमान जगमग-जगमग कर रहे हैं। ३२ प्रकार के दिव्य नाटक हो रहे हैं। खाने-कमाने और लेने-देने की चिन्ता नहीं है। दैवी विभूति चरणों में लोट रही है। ऐसी देवयोनि मिली। किन्तु वे उस योनि के स्वर्गीय सुख भी न रहे और वह उच्चता भी न रही। अब वह देख देवलोक का देवता, वही भौतिक पदार्थों का आनन्द लूटने वाला देवता,

स्थिति पूरी होने पर च्यवन करता है और सीधा भडसूरी की कूख में जन्म लेता है। अरे वर्णाभिमानी। जरा नजर फैला कर देख तो सही कि दुनिया किधर जा रही है और तू किधर जा रहा है? राजा और प्रजा का भाव तो देख। संसार में किस प्रकार की विचारधाराएँ जन्म ले रही हैं और तू उस धारा के विरुद्ध वह रहा है। अगर उस बाढ़ में फँस गया तो तुझे कोई ढूँढने वाला भी नहीं मिलेगा। बुद्धिमान् मनुष्य समय के प्रवाह को देखता है और अपने जीवन को उसी साँचे में ढाल लेता है। काल की विशेषताओं को पहचानना ही बुद्धिमत्ता है। ससार तेज रफ्तार के साथ किस ओर बढ रहा है और जात्यभिमानी मानव अपनी मनमानी करके किधर चल रहा? किन्तु अब तेरी यह मनमानी चाल चलने वाली नहीं है।

श्रीमद् आचारागसूत्र में भगवान् महावीर स्वामी अपने मुखारविन्द से फर्माते हैं—

'से असइ उच्चागोए, असइ नीयागोए, नो हीणे, नो अइरित्ते, नो ऽपीहए, इय सखाय को गोयावाई? को माणावाई? कांति वा एगे गिज्झा?

—(द्वि० अ० सू० उ०)

अर्थात्—यह आत्मा अनेक वार उच्चगोत्र में उत्पन्न हुआ है और अनेक वार नीचगोत्र में उत्पन्न हुआ है। इसमें न कोई हीनता है और न कोई विशेषता है। अतएव किसी भी मदस्थान की इच्छा न करो। ऐसा जानकर कौन गोत्र का अभिमान करेगा? कौन गर्व करेगा? किसमें आसक्ति धारण करेगा?

ऐ आत्मा! तूने अनन्त-अनन्त वार उच्चगोत्र में और नीचगोत्र में जन्म धारण किया है। इससे तुझमें न कोई हीनता आई, न कोई विशेषता आ गई। न इससे आत्मिक गुणों का ह्रास हुआ, न विकास हुआ।

तो सज्जनो! मै कह रहा था कि जो दूसरों को नीचा समझते है, उन्हें स्वयं नीचा देखना पड़ता है। अतएव तुम से बन सके तो गिरे हुए प्राणियों

को ऊंचा उठाओ, किन्तु किसी को गिराने का प्रयत्न मत करो। मगर आज के भोले जीव तो यहा तक कह देते हैं गिरते हुओं को मरते हुओं को और पीड़ितों को और सिसकते हुओं को कि—जा भाई, जा, तेरा जल्दी मोक्ष हो जाय।

सज्जनो! किसी को ठुकराओ मत और किसी का मान भग मत करो। तुम्हारी मानहानि होती है तो तुम्हें कैसा लगता है? बदला लेने के लिए न्यायालय में जाते हो। और दूसरों की मानहानि करते खयाल भी नहीं आता? अगर तुम दूसरों की मानहानि करने की बात सोचते हो और वैसा करते हो तो दूसरों के द्वारा भी तुम्हारे प्रति ऐसा व्यवहार हो सकता है, जिससे कटुक परिणाम निकले। अतएव इस क्षणभगुर जीवन में दूसरों के प्रति सद्व्यवहार करो, शुद्ध विचार करो, और बन्धुता का सबंध स्थापित करो।

जब तक आप में यह दृष्टि उत्पन्न नहीं होती, तब तक सम्यक्त्व भी उत्पन्न नहीं हो सकता। जो दूसरों के प्रति दुर्बुद्धि रखते हैं, दूसरों की मानहानि करके उन्हें तिरस्कृत करने की भावना रखते हैं, उनके साथ सम्यक्त्व का सरोकार ही क्या है? आप जानते ही हैं कि जिस मकान में अडे खाने वाले, मदिरापान करने वाले और मासभक्षी जैसे अधर्मी लोग निवास करते हैं, वहां किसी भले आदमी का रहना ही कठिन है। वह तो दूर से ही उस घर को नमस्कार करेगा और जहां इस प्रकार के भूत ताण्डव कर रहे हों, मलीन भावनाएं हों, वहां समकित का रहना भी सभव नहीं है। भगवान् महावीर का फर्मान तो यह है कि—

सव्वभूयप्प भूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।

दशवैकालिकसूत्र में भगवान् ने यह पाठ पढ़ाया है कि जैसे आप सम्मान चाहते हैं, उसी प्रकार सभी अपना मान चाहते हैं। कोई अपमान नहीं चाहता। अतएव जब तक आप प्राणी मात्र को अपनी आत्मा के समान नहीं समझते, तब तक आप में सम्यक्त्व नहीं आ सकता।

धर्मबन्धुओ तथा भगिनियो । मैं आपको एक प्रासंगिक सूचना कर देना चाहता हूं । हम साधु बने हैं, हमने गृह-ससार का त्याग किया है । जो इन्द्रियो को जीतता है और अपने जीवन को सयम की साधना में लगाता है, वही सच्चा साधु है । साधु का जीवन मंजा हुआ होता है, त्यागमय होता है । वह रसना-इन्द्रिय को जितने परिमाण में वशीभूत करेगा, उतनी ही अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि कर सकेगा ।

हमारे साधु-समाज में श्रमणसघ का निर्माण होने से पहले कितनी ही प्रकार की धारणाए प्रचलित थीं । किसी सम्प्रदाय में कोई वस्तु अचित्त मानी जाती थी, तो दूसरे सम्प्रदाय में वही सचित्त समझी जाती थी । इस प्रकार मत-भेद चलता रहता था । हम छद्मस्थ हैं, अतएव कई वस्तुओं के सबध में दावे के साथ निर्णय नहीं कर सकते कि अमुक वस्तु सचित्त ही है अथवा अचित्त ही है ? यह तो केवली ही जान सकते हैं । किन्तु जहा तक बुद्धि काम करे वहा तक शास्त्रो के आधार पर निर्णय करना ही चाहिए । पहले किसी किसी सम्प्रदाय में केला ग्राह्य माना जाता था और किसी-किसी में अग्राह्य समझा जाता था । कोई एरड ककड़ी, खरबूजा, छोटी इलायची और किशमिस लेते थे कोई नहीं लेते थे । कोई बादाम अखण्ड गिर लेते थे, कोई नहीं । इस प्रकार की विचार भिन्नता चल रही थी , ऐसी स्थिति में बड़ी कठिनाई थी कि क्या माना जाय और क्या न माना जाय । किन्तु सबने एक साथ बैठकर विचार किया, सोचा, मंथन किया और निर्णय किया है । वह निर्णय 'जैनप्रकाश' में प्रकट हो चुका है ।

साधुओ का आहार, गृहस्थों पर निर्भर है, गृहस्थ, साधुओं के संयम के सरक्षक और सहायक हैं । हमारे आहार की सदोषता और निर्दोषता कितने ही अंशों में आप पर अवलम्बित है । अतएव आपको हमारे शरीर की अपेक्षा हमारे संयम की अधिक चिन्ता होनी चाहिए । यह शरीर सयम की साधना के लिए ही है । सयम पालन के लिए उपयोगी साधन समझ कर ही हम इसकी रक्षा

कर रहे हैं। अन्यथा इस पुद्गल-पिण्ड को ढोते फिरने से लाभ ही क्या है। इस अपावन और व्याधिया के मन्दिर शरीर की अगर उपयोगिता है तो यही कि इससे आध्यात्मिक साधना में सहायता ले ली जाय। शास्त्र में कहा है—

अवि अप्पणो वि देहंमि नायरंति ममाइय।

अर्थात्—संत जन अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते हैं। इस शरीर में ममत्व रखने योग्य गुण है भी क्या? फिर भी आत्मिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए इसकी आवश्यकता है। इसी से यह बोझा उठाना पड़ता है। जब आत्म-साधना में यह उपयोगी नहीं प्रतीत होता और ऐसा जान पड़ता है कि इसकी सेवा करने से सयम में विघ्न होगा, तब समभावपूर्वक इसका परित्याग कर दिया जाता है। अभिप्राय यह है कि सयम के लिए शरीर है, शरीर के लिए संयम नहीं है। ऐसी स्थिति में आप सब गृहस्थो को और विशेषत बहिनों को हमारी यह दृष्टि भली-भाति समझ लेनी चाहिए और मुनियो को ऐसे पदार्थ ही देने चाहिए जिनसे उनके सयम में बाधा उपस्थित न हो।

भीनासर सम्मेलन में पूरा केला लेने की मनाइ हो चुकी है। टुकडे भी हम तब तक नहीं ले सकते जब तक कि वे नमक या शक्कर के संयोग से प्रासुक न हो गये हों, शस्त्र परिणत न हो गये हों। इसी प्रकार छोटी इलायची भी नहीं ले सकते। यह सब निर्णय साधुओं ने मिल कर किया है। परन्तु कल हम गोचरी के लिए गये तो छिलके वाले केले देने की कोशिश की गई। अतएव मैं आप को चेतावनी देना चाहता हूँ कि आप हमारे सयम के सहायक बने।

बहिनों! आहार-पानी का सम्बन्ध प्राय आपसे ही होता है। अत आप भी ध्यान मे रखिए कि जिन चीजो को हमने न लेने का निर्णय किया है उन्हें आप न दिया करें। अगर भूल-चूक मे कोई साधु ऐसी कोई चीज ले लें तो आप स्पष्ट कह दीजिए कि आपका ऐसी चीजों को न लेने का नियम बन चुका है।

वहिनो और भाइयो ! अगर आप ऐसा करेंगे तो साधुओं के सयम पालन में सहायता प्रदान करेंगे। आप के साथ साधु का धर्म का ही नाता है। अतएव आप किसी भी तरह के मोह में न रहें और एकान्त भाव से सयम की पालना का ही विचार करें। आप को भली भाति समझ लेना चाहिए और सदा ध्यान में रखना चाहिए कि खाने के लिए हमने सिर नहीं मु डाया है । सयम की साधना के लिए, इन्द्रियों को वश में करने के लिए और आत्मा के हित के लिए हम साधु वने हैं।

तो मैं कह रहा था कि आत्मा का कल्याण इन्द्रियों को वश में करने से ही हो सकता है। जो इन्द्रियो के वशवर्त्ती हो जाते हैं वे परलोक को तो विगाड़ते ही हैं इस लोक को इस जीवन को भी विगाड़ लेते हैं। अपनी जिन्दगी दु खमय वना लेते हैं । उन्हें उस राजा की तरह सव सुखों से हाथ धोने पड़ते हैं। अतएव इन्द्रियो को वश में करना नितान्त आवश्यक है, अनिवार्य है।

वुद्धिमान डाक्टर या वैद्य शरीर में घुसे अनेक रोगों में से सर्वप्रथम भयानक रोग का ही उपचार करता है। इसी प्रकार हमारे जीवन में अनेक रोग घुसे हैं। उन सव के इलाज की आवश्यकता है, किन्तु सव से भयकर रोग मिथ्यात्व का है। उसको सव से पहले मिटाना होगा और इसी कारण मैं उसकी चिकित्सा करना चाहता हू। मिथ्यात्व का महारोग चला गया तो अन्य सव त्रुटिया धीरे-धीरे रफा-दफा हो जाएगी।

जो मिथ्यात्व का त्याग करते हैं और वीर प्रभु के गुण गाते हैं वे, ससार-समुद्र से पार हो जाते हैं और अनन्त, अक्षय, अव्यावाध सुख के स्वामी हो जाते हैं।

व्यावर }
१३-७-५६ }

६

वीर' सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिता·
वीरेणाभिहत स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचय' हे वीर ! भद्र दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायका
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिन कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो ! शास्त्र मे ज्ञानी पुरुषों ने आत्मकल्याण के लिए निर्वाण के लिए और आत्मिक आनन्द प्राप्ति के लिए बहुत कुछ बतलाया है। महापुरुषों ने प्राणियों की आत्मा के उत्थान के लिए कोई बात उठा नहीं रखी। निरन्तर उन महापुरुषों की यही भावना रही है कि येन-केन प्रकारेण ससारी जीव जो यातनाएँ भोग रहे हैं खेद-खिन्न हो रहे हैं, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक व्यथा से पीड़ित हो रहे हैं, और किसी भी अवस्था में आराम नहीं पा रहे हैं, उन्हें राहत-शान्ति मिले और वे सुखपूर्वक जीवन यापन कर सकें।

उन महापुरुषों की सदैव यही कामना रही। भूतकाल में जो अनन्त तीर्थंकर हो चुके, उन्होंने भी यही उपदेश दिया और आज महाविदेह क्षेत्र में जो बीस विहरमान तीर्थंकर विराजमान हैं, वे भी प्राणियो को यही धर्म-देशना दे रहे हैं और उनका एक मात्र उद्देश्य यही है कि ससार के मानव का कल्याण हो—जो प्राणि चतुर्विध गति में भटक रहे हैं—उनसे छूटकर पचम गति (मोक्ष) को प्राप्त करें। उनके उपदेश का भव्य जीव वहा लाभ रहे हैं। आज यहा यद्यपि तीर्थंकर भगवान् नहीं हैं, किन्तु उनके मार्ग को वतलाने वाले शास्त्र और सदुपदेष्टा मुनि तो हैं।

श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन मे भगवान महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी को वताया—हे गौतम! तुम्हें वहुत उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है, क्योंकि इस समय तीर्थंकर, केवली, मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी आदि सव मौजूद हैं। यदि इस समय कोई प्राणी आत्म-चेतना प्राप्त करना चाहे तो उस के लिए समस्त साधन उपलब्ध हैं। आज के युग के जीवों को जो जो साधन-सामग्री प्राप्त है, वह आगामी समय के जीवों को प्राप्त होने वाली नहीं है। पॉचवें आरे के जीव यही कहेंगे कि आज तीर्थंकर-केवली नहीं हैं, जिनसे हम मन के सशय दूर कर सकें और अनेक जटिल प्रश्नो को पूछ कर उन्हें हल कर सकें। पहिले तो मन में उठते ही प्राणी अपनी-अपनी शंकाओ का समाधान कर लिया करते थे। पूछ लेते थे कि—'भगवन् मैं भव्य हूॅ या अभव्य? मैं सुलभवोधि हूॅ या दुर्लभवोधि? मै परित ससारी हूॅ या अपरित ससारी? मैं चरम शरीरी हूॅ या अचरम शरीरी? मैं कृष्ण-पक्षी हूॅ या शुक्ल-पक्षी?'—प्रश्न करने में ही समय लगा करता था, उत्तर मे तनिक भी नही। भविष्यत्कालीन, सूक्ष्म और गहन प्रश्नों का निर्णय केवलज्ञानियो के सिवा कोई छद्मस्थ नहीं कर सकता। यह विशेषता केवलज्ञानियों मे ही होती है। वही इन प्रश्नों का समुचित-समाधान कर सकते हैं। तीनों कालो में तीनों लोकों में सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी केवली से छिपी नही रह सकती है। उनके ज्ञान मे सभी वस्तुएँ आ जाती हैं।

सज्जनो। प्रवचन में कई पारिभाषिक शास्त्रीय शब्द आ जाते हैं, जिनका अर्थ श्रोताओं को समझाना आवश्यक है। उसके अभाव में मन में शंका रह जाना सभव है। यहा 'भव्य' और 'अभव्य' दो शब्द आए हैं, जिनका अर्थ स्पष्ट कर देना उचित होगा। जिनमें मोक्ष जाने की योग्यता विद्यमान है और जो किसी समय भविष्य में मोक्ष-प्राप्त करेंगे, उन्हें भव्य कहते हैं। वह मोक्ष कभी भी जाए यह दूसरी वात है पर शक्ति मौजूद होने पर किसी भी समय मोक्ष-प्राप्ति वह अवश्य करेगा।

सज्जनो। भव्य होना भी एक लब्धि है और यह लब्धि जप-तप करने से प्राप्त नहीं होती, जैसे कि अनेक प्रकार से तपस्या करने पर कई लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। भव्यत्व लब्धि स्वाभाविक है—जप-तप आदि के करने से प्राप्त होने वाली नहीं। यह भव्यत्व भाव-पारिणामिक है, स्वाभाविक है। कर्मों के उदय आदि द्वारा न होने वाली वात को पारिणामिक भाव कहा जाता है। आशय यह है कि ऐसा नहीं है कि अच्छे कर्म करने से भव्य और बुरे कर्म करने से प्राणी अभव्य हो जाए। किन्तु यह स्वाभाविक है। जो भव्यात्मा है वह भव्यात्मा ही रहेगा और जो अभव्यात्मा है वह अभव्यात्मा ही रहेगा। भव्य का अभव्य और अभव्य का भव्य किसी भी समय और किसी तरह होना असभव है। सज्जनो। अभव्य जीवों के लिए यह कितने दुख का विषय है—कितने परिताप की वात है कि उन्हें कभी मोक्ष प्राप्त होगा ही नहीं? वे अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करते ही रहेंगे। तात्पर्य यह है कि निश्चित रूप से किसी भी समय मोक्ष जाने वाले प्राणी भव्य और नहीं जाने वाले प्राणी अभव्य कहलाते हैं।

सज्जनो। मे आपको कह रहा था कि भगवान् महावीर ने फर्माया—"हे गौतम। तुम्हें वहुत अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। इस समय तुम्हारे मन में जो भी शकाएँ हो उन्हें निस्सकोच भाव से दूर कर सकते हो। पचम आरे के जीवों का दुर्भाग्य रहेगा—क्योंकि उस समय जिन, तीर्थंकर और सामान्य केवली

भी कोई न होगा। अवधिज्ञानी-मन पर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी, इन तीन प्रकार के ज्ञानियों को केवलज्ञानी माना गया है। जिन्हें अपने-अपने क्षेत्र का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया हो वे अपने अपने क्षेत्र के केवली कहलाते हैं। किन्तु सर्वोपरि केवली तो वही होते हैं जिन्होंने चारों घाति कर्मों को नाश कर दिया है, और अनन्त ज्ञान व अनन्त दर्शन को प्राप्त कर लिया है। चार घाति कर्मों ने ही हमारे अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन आदि आत्मिक गुणों को ढक रखा है—इसीलिए ये ॰ात करने वाले कहलाते हैं। इन्हीं कर्मों के आवरण से प्राणियों को सच्चा ज्ञानमार्ग नहीं मिल पाता और अनन्त काल तक नाना-गतियों में भटकते रहते हैं।

हे गौतम! इसीलिए पचम आरे के जीव कहेंगे कि आज जिन नहीं, केवली नहीं जिनसे हम अपनी शंकाओं का समाधान कर सकें।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कोई जीवात्मा भगवान से पूछती है कि—'हे भगवन्! मैं भव्य हूं या अभव्य?' भगवान सब जानते हैं, अत वे भव्य को भव्य और अभव्य को अभव्य कह देंगे। किन्तु यदि अभव्य को अभव्य कह दिया जाय तो ऐसे वचन उसको तीव्र वज्र के समान प्रतीत होंगे—अत्यन्त दुखदायी लगेंगे। किन्तु अभव्य को भव्य तो नहीं कहा जा सकता। यदि अभव्य को भव्य कह दें तब तो लाभ ही लाभ है। क्योंकि कोई मालिक किसी से कहे कि व्यापार में तेरा हिस्सा है और तुझे उसमें लाभ हुआ है तो लाभ का समाचार सुनकर प्रत्येक को प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही है। दुनिया लाभ में सम्मिलित होना चाहती है, हानि में नहीं। इसी प्रकार यदि अभव्य को भव्य कह दिया जाय तो उसे असीम सुख प्राप्त होगा और उसे अभव्य कह देने पर बड़ा आघात लगेगा।

किन्तु सज्जनो! वास्तविकता यह है कि भव्यत्व और अभव्यत्व के सम्बन्ध में भव्य के मन में ही विचार उत्पन्न होता है। अभव्य के मन मे इस विषय मे कभी विचार आता ही नहीं है। 'मै सुलभ बोधी हूँ या दुर्लभ बोधी?'—"मैं कृष्ण पक्षी

हूं या शुक्ल पक्षी ?" इस प्रकार के प्रश्न भव्य जीव ही भगवान से करता है। अभव्य के मन में शकाए उत्पन्न होती हैं, किन्तु वे व्यावहारिक शकाएं ही होती हैं। उसके मन में शास्त्र विषयक या आत्म विषयक प्रश्न उत्पन्न ही नही होते। उसकी विचारधारा व्यावहारिक होती है, पारमार्थिक नहीं। भद्रपुरुषो! शास्त्रकार कहते हैं—

"काले सुपत्तदानं, अन्ते समाहिमरणं अभव्य जीवा न पावंति"

अर्थात—अभव्य जीव अवसर मिल जाने पर भी सुपात्रदान का लाभ नहीं ले पाते और अन्तकाल आ जाने पर वह समाधि मरण भी नहीं कर सकते, क्योंकि वह माया शल्य, नियाणा शल्य और मिथ्यादर्शनशल्य आदि आदि पापों की आलोचना नहीं करते हैं। काटा पैर में चुभ जाता है तो अन्दर ही अन्दर पीड़ा देता रहता है, इसी प्रकार आत्मा में भी तीन शल्य होते हैं और जब तक वह इन तीनों शल्यों की आलोचना नहीं करता है, तब तक पंडित मरण को भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो माया भीतर ही भीतर परिताप देती रहती है, उसे माया शल्य कहते हैं। जिसने करोड़ों का माल कौड़ियों में लुटा दिया हो और बाद में भयानक भूल मालूम होने पर जो पश्चात्ताप करता है और अंदर ही अंदर जलता रहता है उसी तरह निदान-शल्य वाला जीव निरन्तर पश्चात्ताप करता रहता है कि—"अहो! मैंने थोडे से भौतिक सुख के लिए, भौतिक आनन्द के लिए उस दुर्लभ रत्न को लुटा दिया और उस अमूल्य समय को नष्ट कर दिया जिसमें मुझे मोक्ष का महान और चिरन्तन सुख प्राप्त हो सकता था। जिस वस्तु के द्वारा मैं अनुपम लाभ प्राप्त कर सकता था उसे अज्ञानवश नष्ट कर दिया। सज्जनो! व्यापारी लोग तो बाजार में मूल्यों के निरन्तर उतार चढ़ाव में अपनी एक बार की हानि दूसरी बार पूरी कर लेते हैं, किन्तु निदान करके मोक्ष का सुख खो देने पर उसकी पूर्ति करना कठिन है और वह अवसर बार बार प्राप्त नहीं होता।

तीसरा शल्य है मिथ्या-दर्शन शल्य। खोटी श्रद्धा, खोटा विश्वास और खोटी मान्यता भी एक प्रकार के शल्य हैं। चुभा हुआ तीर शरीर को विदीर्ण करता रहता है—क्षत विक्षत करता रहता है—भीतर ही भीतर कसकता रहता है। उससे शरीर की शक्ति भी क्षीण हो जाती है। जब तक वह निकल नहीं जाता, तब तक शरीर को और मन को शान्ति प्राप्त नहीं होती। उसी तरह मिथ्या श्रद्धा भी आत्मा को विदीर्ण किए रहती है और उसके गुणों का नाश करती रहती है। वह पुरुष-वह प्राणी धन्य है जिसे सच्चा सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है और वह पुरुष दुर्भाग्यवान् है जिसे मानव-देह प्राप्त करने पर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो सकी। शास्त्र में सम्यक्त्व को ऊचे से ऊचा स्थान दिया गया है। कहा है—

> नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्व ग्रस्त चेतस।
> पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वग्रस्त चेतस॥

ग्रन्थकारों ने मिथ्यात्व को अत्यन्तहीन बताया है और सम्यक्त्व को बहुत बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वे कहते हैं—"हे मनुष्य। यदि तुझे मानव-शरीर प्राप्त हो गया—दो कान, दो नेत्र, एक नासिका, एक मस्तक और मनुष्य की आकृति मिल गई पर आखिर तो यह शरीर मल-मूत्र का भडार ही है। पशु को भी अपने शरीर में कुल वस्तुए प्राप्त होती हैं। शरीर की दृष्टि से तुझ में और पशु में कोई भेद नहीं। बल्कि मानव की देह अधिक विकृत और निरुपयोगी होती है। पशु का शरीर तो फिर भी कुछ उपयोगी और कीमती होता है। जीवनोपयोगी कुछ वस्तुएं तो उससे बना ही ली जाती हैं। मानव का शरीर मिलने का फायदा क्या? बिना धर्म के मनुष्य सींग और पूछ वाले पशुओं के समान ही है। समकित के बिना दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं। आकृति का भेद वास्तविक भेद नहीं होता। मिष्टान्न चाहे गोल, लम्बा या चपटा, कैसा भी हो, उसकी मधुरता का आकृति से कोई सम्बन्ध नहीं। किसी भी प्रकार की आकृति बना देने पर भी उसका रस वैसा ही रहेगा। मधुरता तो उसका

स्वभाव है। मूल्य उसकी आकृति का नहीं होता बल्कि उसके मधुर रस का होता है। गोल होने से उसकी कीमत अधिक नहीं दी जाती और चपटी होने से उसका मूल्य कम भी नहीं होता। मधुरता तो मधुरता ही है। जब उसे मुख में रखा जाएगा वह मधुर रस का परिचय देगी। इसी प्रकार यदि मनुष्य को मनुष्य भावी शरीर और तिर्यंच को तिर्यंच भावी शरीर मिल गया तो इससे उसकी विशेषता नहीं है। स्मरण रखो—शास्त्र में संहनन संस्थान बताए गए हैं। किसी का शरीर समचतुरस्त्र या स्वातिसंस्थान वाला है—कोई न्यग्रोध परिमण्डल वाला है, कोई कुब्जक, हुंडक या बौना है। विभिन्न प्रकार की आकृति हो सकती है पर वह आकृति मोक्ष-प्राप्ति में बाधक नहीं होती। हां, संहनन की अवश्यमेव आवश्यकता होती है। तात्पर्य यह है कि संस्थान मोक्ष का बाधक नहीं है किन्तु उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र विकृत नहीं होने चाहिए। सभी संस्थान वालों के लिए मोक्ष का मार्ग खुला है किन्तु उसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना अपेक्षित है। मूल्य थैली या वस्त्र का नहीं है किन्तु उसमें रखे हुए स्वर्ण और रत्नों का होता है। थैली का वर्ण चाहे काला, श्वेत, लाल, पीला या कैसा भी हो किन्तु उसमें सम्यक ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्न होने चाहिए। इसलिए, हे भद्र पुरुषो! ज्ञानी कहते हैं कि सब संस्थान वालों के लिए मोक्ष का द्वार खुला है—संस्थान के कारण मोक्ष के द्वार कभी बन्द होने वाले नहीं है। ज्ञान उचित और उचित दिशा में ले चलने वाला होना चाहिए। सच्चा और सीधा ज्ञान होना ही अच्छा है। जब चिन्तन सीधा है तो उसका अनुष्ठान भी सीधा होगा, और अगर अनुष्ठान सीधा है तो उसकी क्रिया भी सीधी होगी। और जब इतनी सब चीजें सीधी होंगी तो मनुष्य का देह चाहे सीधा हो अथवा टेढा हो, उसके लिए मोक्ष का द्वार अवरुद्ध नहीं होगा।

मैं कह रहा था कि शरीर मनुष्य का या पशु का मिल गया तो क्या। दोनों ही अस्थि-चर्ममय हैं और एक समान ही पुद्गल दोनों में हैं। मनुष्य और पशु की आयु भी करीब-करीब समान ही होती है। मनुष्य की जघन्य आयु अन्तर्मु-

हूर्त की है और समूर्छिम मनुष्य की तो आयु अन्तमुर्हूर्त की ही होती है। मल-मूत्र में चौदह जगह उत्पन्न होने वाले मनुष्य की जघन्य आयु तो अंतमुर्हूर्त की होती ही है किन्तु संज्ञी मनुष्य की भी जघन्य आयु अन्तमुर्हूर्त की हो सकती है। वह माता के गर्भ में आता है और वहीं मर जाता है। आप जानते होंगे कि एक दफा के सभोग-समय में नौ लाख सज्ञी मनुष्य उत्पन्न होते हैं—और उनमें से कोई जीव जन्म लेता है और बाकी सब मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। उन्हें दुनिया के बाहर आकर उसे देखने का अवसर भी नहीं मिलता। पर कभी-कभी एक, दो, और चार भी जन्म ले लेते हैं। रोहतक में एक ब्राह्मणी के घर चार बच्चे हुए और बहुत लोग उन्हें देखने भी गए थे। इसी प्रकार स्यालकोट के पास सोलह नाम का एक गाव हैं, वहा एक जाटनी के चार दफा चार चार बच्चे उत्पन्न हुए। चार दफे चार चार बच्चो का जन्म लेना बड़ी बात नहीं पर उनका जीवित रहना महत्वपूर्ण बात है। वे सोलह ही जीवित रहे और उनके ही परिवार से उस ग्राम का नाम भी सोलह गाव पड़ गया। तात्पर्य यह है कि कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंच की आयु एक दूसरे से कम नहीं है। जघन्य दोनों की अन्तमुर्हूर्त की और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व की होती है। अकर्मभूमि के मनुष्य की आयु जघन्य तो पल्य के असख्यवें भाग की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है और तिर्यंच जुगलिए की भी इतनी ही होती है। मनुष्य और तिर्यंच दोनों की आयु मे भी अतर नहीं है और शरीर की लम्बाई चौड़ाई में भी। मनुष्य जुगलिए की उ० तीन गव्यूति की लम्बाई है और तिर्यंच जुगलिए की उ० छ गाउ (गव्यूति) की है। कर्मभूमि के तिर्यंच मच्छ की लम्बाई चौड़ाई तो मनुष्य से भी अधिक है अर्थात एक हजार योजन की है। कहने का प्रयोजन है कि शरीर और आयु की दृष्टि से तिर्यंच मनुष्य से कम नही है। जब वे ही सस्थान पशुओं में भी पाये जाते हैं तब मनुष्यों की विशेषता क्या रही? अगर कोई विशेषता मनुष्य में है तो वह यही कि उसमें विवेक बुद्धि है जो पशु में नहीं पाई जाती। जैसे पशुओं में हिताहित का बोध और ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार मनष्यों में भी अगर वह बुद्धि न हो तो वह भी पशुत्व-

भाव को ही प्राप्त हो जाता है। जैसे चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश को राहु ग्रस लेता है, उसी प्रकार जिसकी विचार-बुद्धि और सम्यक्त्व को मिथ्यात्व रूपी राहु ने ग्रस लिया है वह नर पशु के समान ही है। जो मिथ्यात्व में विचरण कर रहा है, जिसे हिताहित का सच्चा ज्ञान नहीं और जिसका आहार-विहार सादा और सरल नहीं, वह मनुष्यता के मूल गुणों से हीन ही कहा जाएगा। खान-पान मे भी मनुष्य पशु के सदृश ही कहा गया है।

नीति कहती है—

आहार निद्रा भय मैथुनच, सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीन पशुभि समान ॥

नीतिकार कहते हैं कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्य और पशु में समान रूप से ही होते हैं और ये क्रियाएं दोनों में बराबर ही होती हैं। मनुष्य को पशु से ऊचा स्थान और श्रेष्ठ पद दिलाने वाली वस्तु धर्म ही है। वही एक ऐसी अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है, जो मनुष्य मे अधिक है। धर्म-विहीन मानव को तो पशुओं के समूह में विहार करने वाला प्राणी ही समझा जाना चाहिए। किन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि वे पशु भी धन्य हैं, पुण्यशाली हैं, जिनको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई और जिनका चित समकित में ही रमण कर रहा है। तिर्यंच भी सम्यक्त्व-प्राप्ति से वचित नहीं होते। सज्जनो! मैं आप से पूछू —"मनुष्य श्रेष्ठ है या श्रावक ?" उत्तर मे आप कह सकते हैं कि सज्ञी मनुष्य तो संख्यात हैं और श्रावक असंख्यात। श्रावकों की सख्या असख्यात इसलिए है कि तिर्यंच श्रावकों की सख्या असंख्यात है और मनुष्य श्रावकों से वे असख्यात गुणा अधिक हैं। उन तिर्यंचो को श्रावकत्व तब आया जब उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। असंख्यात द्वीप सागरों में ऐसे जानवर हैं जिन्हें जाति-स्मरण आदि ज्ञान प्राप्त हो जाता है। कुछ जीव सम्यक्त्व से पतित हो जाते हैं और देव, गुरु व धर्म की विराधना करते हैं। अगर वे सम्यक्त्व में आयु का बंध करें तो अवश्य वैमानिक देव बन जाएं, किन्तु सम्यक्त्व से भ्रष्ट

होने से देवलोक के बजाय वे तिर्यञ्च योनि में आते हैं और इस गति में जन्म लेते हैं। करनी की हुई व्यर्थ कभी नहीं जाती। जैसे खेत में डाला हुआ बीज बेकार नहीं जाता और समयानुसार निमित्त प्राप्त होते ही उसमें अकुर उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार क्रिया भी समय पर फल अवश्य प्रदान करती है। वे जीव एक नहीं, दो नहीं अनन्त सम्यक्त्व को प्राप्त कर पतित हुए तथा पहिले गुणस्थान में आए। किन्तु पतित होने पर उनका गिरना भी निष्प्रयोजन नहीं होता बल्कि कुछ अर्थ रखता है क्योंकि ऊपर चढ कर गिरे हुए हैं। जो चढता है वह कभी गिर भी सकता है और गिरकर पुन भी चढ सकता है। किन्तु जो कभी चढा ही नहीं उसके लिए कठिनाई होती है। दुख उन्हीं के सम्बन्ध में अधिक होता है। जो व्यापार करता है वह कभी लाभ और कभी-कभी हानि भी उठा लेता है। पर यदि सर्वदा हानि ही हानि होती रहे तो वह व्यापार ही क्यों करेगा ? यदि नित्य लाभ ही लाभ होता रहे तो उस उपार्जित द्रव्य को रखने के लिए उतना स्थान प्राप्त करना ही कठिन हो जाय । उत्थान और पतन तो ससार का नियम ही है। सम्यक्त्व से चढकर जो गिर जाए उनका भी देशोन अर्धपुद्गल परावर्तन ससार ही परिभ्रमण शेष रह जाता है। यदि पतित नहीं होते तो उसी भव से मोक्ष-प्राप्ति कर सकते थे। किन्तु गिर जाने पर भी उन का परिभ्रमण काल सीमित हो जाता है। बनिए का तेल से सना हुआ जो हार होता है वह जहाँ कहीं भी पड़ता है कुछ न कुछ लेकर ही उठता है— क्योंकि उसमें पकड़ लेने की शक्ति विद्यमान रहती है। इसी प्रकार जो पतित हो जाते हैं वे भी सम्यक्त्व का कुछ न कुछ लाभ ले ही लेते हैं। जैसे कि कहा जा चुका है, जो पतित नहीं होते वे तो उसी भव में मोक्ष जा सकते हैं किन्तु जो पतित हो चुके हैं, वे भी सम्यक्त्व के प्रभाव से एक दो भव या उत्कृष्ट देशोन अर्धपुद्गल परिभ्रमण करने पर अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। और यह उत्कृष्ट काल है।

मैं कह रहा था कि मनुष्य श्रावक से तिर्यञ्च श्रावक असख्यात गुणा हैं। मनुष्य तो सख्यात हैं, और उनमें भी कोई अव्रती हैं—कोई साधु हैं और कोई

मिथ्यात्वी हैं—और उन्हीं में से श्रावक बन रहे हैं। तिर्यञ्च श्रावक अधिक हैं किन्तु प्रत्येक तिर्यञ्च को श्रावक बनने का अधिकार नहीं है। जो सम्यक्त्व से गिरे हुए तिर्यञ्च होते, और समुद्रादि मे कहीं उत्पन्न हो जाते हैं और अगर उन्हें साधु मुनिराज आदि के दर्शन होने का अवसर प्राप्त हो जाय तो उन्हें जातिस्मरणादि ज्ञान हो जाता है और विचार आता है कि मैंने इन्हें कहीं देखा है, दर्शन किए हैं, सेवा-लाभ प्राप्त किया है तो इस प्रकार सोचते सोचते उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। वह जातिस्मरणज्ञान से अपने पूर्वजन्म को देखता है और कहता है—"अहो। आश्चर्य है कि मैंने श्रावक के व्रत धारण किए थे और निर्दोष रूप से उनका पालन भी किया था किन्तु मिथ्यात्व के सम्पर्क से और पाखड में लिप्त हो जाने से मै विराधक होकर तिर्यञ्च बन गया। मैंने अपने पापों का पश्चात्ताप नहीं किया। आलोचना नहीं की और उसी अवस्था में कालगति को प्राप्त हुआ और फलत यह जन्म धारण करना पड़ा। सज्जनो। मनुष्य से भूल तो हो ही जाती है। यह हर प्राणी का स्वभाव है। जैसे वस्त्र फट जाता है और उसे सी लिया जाता है, उसी प्रकार समकित और व्रत धारण करने वाले से भी भूल हो ही जाती है पर उसकी आलोचना और पश्चात्ताप करके शुद्ध हो जाना चाहिए। जैसे वस्त्र मलीन हो जाता है और उसे साबुन द्वारा साफ कर लिया जाता है, उसी प्रकार व्रत भग हो जाने पर उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा निर्दोष हो जाना पड़ता है। शुद्धि नहीं करने के परिणाम स्वरूप ही प्राणियों को तिर्यञ्च गति में जन्म लेना होता है। श्रीमद् ठाणागजी सूत्र में कहा गया है कि आलोचना भी कोई विरला ही कर सकता है। कई लोग अपने दोष भी स्वीकार नहीं करते हैं। अपराध को नहीं मान कर अपने को सच्चा सिद्ध करने के लिए मुकदमा लड़ते है, घर बार लुटा देते हैं, व्यर्थ समय और धन नष्ट करते हैं, पर अपनी भूल स्वीकार नहीं करते। अपना अपराध स्वीकार करने के लिए भी आत्मा में बल होना चाहिए। मन का दुर्बल व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। जो मनुष्य पाप करके उसकी आलोचना नहीं करना

वह भीरू है, डरपोक है और निर्बल है । उसे झूठी मान और प्रतिष्ठा का लोभी समझना चाहिए । उसे आत्म-कल्याण की लालसा नहीं होती । इसी यश और मान के भूत ने प्राणियों को ससार में दुखी कर रखा है । यश का लोभी और दुर्बल हृदय वाला मनुष्य सोचता है कि अगर मैं अपने दोषों को प्रकट कर दू गा तो सब लोग मेरी निंदा करने लगेंगे, मुझे धिक्कार ने लगेंगे, चारों ओर फैली हुई मेरी कीर्ति में कमी हो जाएगी और मेरा अपयश बढ जाएगा । किन्तु बन्धुओं ! मैं कहूँगा कि उसकी मान मर्यादा कम न होगी लेकिन इसके विपरीत उसके यश में अधिक वृद्धि होगी । दोषों को प्रकट न करने पर ही वह भीरू और कायर कहा जाएगा । सज्जनो ! जो आत्मा के पापों की आलोचना करता है उसका जीवन शुद्ध, परिमार्जित और परिशोधित हो जाता है । एक बड़ा आदमी अगर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है तो लोग उसे अधिक सम्मान देते हैं, उसका जीवन-स्तर ऊंचा उठता जाता है, और वह अन्य व्यक्तियों में आदरणीय बन जाता है । लोग उसका अनुकरण करके अपने आपको और भी विशुद्ध बना लेते हैं । अपने पापों की आलोचना करके वह दूसरे पापी जीवों को उचित मार्ग का प्रदर्शन कर उन्हें पुण्य के संचय करने को प्रेरित करता है । किन्तु यह कहते हुए मुझे दुख होता है कि बहुत से व्यक्ति लोक-भय के कारण आलोचना नहीं करते । बहुत से सोचते है कि जीवन में प्रतिक्षण छोटे और बड़े पाप होते ही रहेंगे, बहुत सावधानी रखने पर भी मानव स्वभाव के अनुसार व्रत-भग के दोष तो भविष्य में भी लगते ही रहेंगे, फिर आलोचना करने से लाभ क्या है ? आलोचना के बाद मे भी तो अपराध होना सभव है ही । सज्जनो ! यह बात तो वैसी ही हुई जैसे एक बार वस्त्र मलीन हो जाने पर सोचना कि इसे साफ करने से क्या लाभ है ? यह तो बाद में फिर मैला हो जाएगा । पर यह विचार युक्ति-सगत नहीं । जो कपड़ा मैला हो गया है, साफ करने के बाद फिर मैला हो जाएगा, फिर भी उसे साफ किया जा सकता है । कोई सोचे की जीर्ण वस्त्र सीने के बाद भी फट जाएगा, इसीलिए उसे सियें ही नहीं तो यह क्या बुद्धिमत्ता कही जाएगी ? कपड़ा फटता रहता है और बुद्धिमान व्यक्ति समय समय पर

उसे सी-सी कर टीक करता रहता है। इसी प्रकार जव-जव भी दोष लगता है उसकी यथा समय आलोचना कर ली जाती है। कितने ही लोग सोचते हैं कि हम अन्तिम समय समस्त पापों की आलोचना एक साथ ही कर लेंगे। किन्तु उनका यह सोचना भी उचित नहीं है। जिस कृषक ने पहिले से खेत में हल जोत कर तैयार कर रखा है और समय पर वीज डाल दिया है, तो वह कुछ कालोपरान्त हरी भरी फसल का यथोचित लाभ भी अवश्य उठा लेगा। किन्तु जिसने जमीन तैयार नहीं की है, समय पर वीज नहीं डाले हैं, हल नहीं चलाया है, सिंचन नहीं किया है, वह फसल का लाभ नहीं उठा सकता। उसका वीज भी व्यर्थ ही जाएगा। इस तरह जिसने आलोचना का परिश्रम किया है, आत्मा रूपी क्षेत्र मे पश्चात्ताप के हल चलाए हैं, दोषों का कूड़ा-कर्कट और घासफूस दूर किया है, सम्यक्त्व के जल से सिंचन किया है, उसे पुण्य रूपी फसल को प्राप्त करने में विलम्ब नहीं लगेगा। जिस विद्यार्थी ने परीक्षा के पाठ्यग्रन्थों का पहिले से ही गंभीर अध्ययन कर रखा है तो उसे परीक्षा के समय अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं पडेगी। वह सरलता से ही उत्तीर्ण हो जाएगा। किन्तु जो परीक्षार्थी वर्ष भर अपने समस्त समय का नानाविध क्रीडाओं में दुरुपयोग करता रहा और परीक्षा से पूर्व एक रात्रि भर जागरण करके अध्ययन करता है, उसका उत्तीर्ण होना असभव है। इसलिए सज्जनो। जो व्यक्ति हर समय अपने दोषों को दूर करता रहा और समस्त पापों की यथासमय आलोचना करता रहा, अन्तिम समय में भी उसे शेष रहे हुए पापों की आलोचना का अवसर मिल जाता है। किन्तु जो अपने पाप को छिपाता रहा, पाप को पाप ही नहीं समझता रहा, वह अपने जीवन के अपराधों की ओर अन्तिम समय में दृष्टिपात नहीं कर पाता और उस आलोचना करने की क्षमता भी प्राप्त नहीं होती।

भद्र पुरुषो। दुर्गन्ध युक्त पदार्थों के सेवन करने से मुख में भी दुर्गन्ध आ जाती है। इसी तरह जिसकी प्रारम्भ से भावना शुद्ध रही है, उसकी अन्त तक भी भावना शुद्ध ही रहेगी। अत प्रारम्भ मे आत्मा को शुद्ध करते रहने के लिए

निरन्तर आलोचना करते रहना चाहिए। सज्जनो! प्राणी तिर्यञ्च योनि में इसीलिए उत्पन्न हुए कि उन्होंने अन्तिम समय में अपनी आत्मा को पाप रहित और विशुद्ध नहीं बना पाया था। यदि वे आलोचना के द्वारा पवित्र हो जाते तो देव लोक अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेते।

कई लोगों को आलोचना करने में सकोच लगता है, झिझक होती है। किन्तु मैं उन्हें अधिक नि सकोच और निडर बनने के लिए प्रेरित करूगा। कई गुप्त रोग ऐसे होते हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति के सामने प्रकट नहीं किया जाता किन्तु चिकित्सक के समक्ष तो सभी रहस्य विस्तृत रूप से खोलने ही पड़ते हैं। इसी प्रकार पाप रोगों से पीड़ित प्राणियों को चिकित्सक रूपी मुनियों को सब कुछ बताने में तनिक भी सकोच नहीं करना चाहिए। अपनी भूल को तत्काल स्वीकार कर सुधार लेने में ही उनका हित है। साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या है? गौतम स्वामी जैसे चउनाणी, भगवान् महावीर के सबसे श्रेष्ठ और प्रिय शिष्य चौदह हजार मुनियों के ऊपर गणधर रूप मे जो महात्मा थे, उन्होंने भी अपनी समस्त भूलों और अपराधों को नि सकोच भाव से स्वीकार किया था।

गौतम स्वामी एक बार नगर में गोचरी के लिए गए। जब आहार पानी लेकर लौटने लगे तब उन्हें मालूम हुआ कि यहा पर पौषधशाला मे आनन्द श्रावक पौषधादि द्वारा आत्म साधना कर रहे हैं। मुझे ऐसे धर्मात्मा श्रावक से मिलना चाहिए। वे वहा गए और आनन्द जी ने उन्हें विधिवत् वन्दना की और पूछा—"स्वामिन्! श्रावक को अवधिज्ञान होता है?" गौतम ने जवाब दिया—"होता है।" फिर आनन्द जी ने कहा कि मुझे अवधिज्ञान हुआ है और मै पूर्वादि तिरछी और ऊपर नीचे की दिशाओ मे अमुक अमुक दूरवर्ती क्षेत्र देख रहा हूं। उन्होंने सभी बाते यथार्थ रूप से उनके सामने प्रकट कर दीं। आनन्द जी का ज्ञान बहुत गभीर विशाल और सूक्ष्म था। इतनी बाते सुनकर गौतम स्वामी ने कहा—"श्रावक जी! श्रावक को अवधिज्ञान होने प

भी इतना विस्तृत, विशाल ज्ञान नहीं हो सकता। अत तुम्हें इस मिथ्या-कथन की आलोचना करनी चाहिए और प्रायश्चित्त लेना चाहिए।" किन्तु आनन्द जी ने बड़े विनीत भाव से कहा—"भगवन्! प्रायश्चित्त सच्चे को करना चाहिए अथवा गल्ती करने वाले को?" इस पर गौतम स्वामी ने कहा कि वास्तव में प्रायश्चित्त तो गल्ती करने वाले को ही करना चाहिए। तब आनन्द जी ने कहा—जो कुछ मैं कह रहा हूं वह बिल्कुल सत्य और यथार्थ है। यह सुनकर गौतम स्वामी निरुत्तर हो गए। उनके मन में विचार-विमर्श होने लगे और वे सीधे भगवान् महावीर के पास पहुँचे। वे सोच रहे थे कि आनन्द कह रहे हैं कि मुझे इतना ज्ञान हो गया है—मैं उन्हें झूठा नहीं कह सकता। पर यह कैसे सभव है कि उन्हें इतना ज्ञान हो जाए? वे बड़े सशय में पड़े हुए थे।

भगवती सूत्र में आया है कि गौतम ने प्रश्न किया—"भगवन्! क्या साधु भी आकाक्षा मोहनीय कर्म भोगता है?" उत्तर मिला—"हा! भोगता है। ज्ञानान्तर, भंगान्तर, लिगान्तर आदि के द्वारा साधु भी काक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है। उसे ज्ञान के विषय में नाना प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान, दोनों क्षायोपशमिक हैं, दोनों रूपी पदार्थों को ही जानते हैं, दोनों को इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नहीं होती, दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं, फिर इन्हें अलग-अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रकार ज्ञान के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है। दर्शन के विषय में भी शका होती है, यथा—जैसे अवधिज्ञान से पहले होने वाला अवधिदर्शन कहा गया है, उसी प्रकार मन पर्ययज्ञान से पहले मन-पर्ययदर्शन क्यों नहीं माना गया? चारित्र के विषय में भी ऐसी अनेक शकाएँ उत्पन्न होती हैं, यथा—इनका चारित्र कैसा है और इनका कैसा है? इससे मोक्ष मिलता है या उससे मोक्ष मिलता है? अगर यथाख्यात-चारित्र से मोक्ष मिलता है तो शेष चार चारित्रों की प्ररूपणा और आराधना करने से क्या लाभ है? नयों के विषय में भी उसे शंका हो उठती है, यथा—द्रव्य को प्रधान

रूप से विषय करने वाला द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय को प्रधान रूप से विषय करने वाला पर्यायार्थिकनय है, तो गुण को विषय करने वाला गुणार्थिकनय अलग क्यों नहीं कहा है। इसी प्रकार व्यवहारनय कुछ कहता है तो निश्चयनय कुछ और ही कहता है। शब्दनय का जो मन्तव्य है, समभिरूढ का उससे भिन्न ही दृष्टिकोण है। और एवंभूतनय निराली ही मान्यता प्रकट करता है। इसी प्रकार कांक्षामोहनीय के प्रभाव से व्रतों के विषय में भी सन्देह होने लगता है। जैसे—भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में चार और भगवान् महावीर के शासन में पाँच महाव्रत क्यों हैं? जब दोनों का उद्देश्य समान है और कार्य भी समान ही है तो फिर महाव्रतों की संख्या में भेद होने का क्या कारण है? अगर भगवान् पार्श्वनाथ के चार महाव्रतों से मुक्ति मिल जाती है तो पाँच महाव्रतों की क्या आवश्यकता है? नहीं मिल सकती तो भगवान् पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों की प्ररूपणा क्यों की? उन्होंने मोक्ष कैसे पा लिया?

इस प्रकार के सन्देह उत्पन्न होने पर साधु भी चक्कर में पड़ जाता है। यद्यपि उसे जिन वचन में अविश्वास नहीं होता, फिर भी शंकाएँ उसके चित्त को ग्रसित कर लेती हैं। कांक्षामोहनीय कर्म का उदय आता है तो आत्मा में एक प्रकार की उथल-पुथल मच जाती है।

हाँ तो गौतम स्वामी भी उथल-पुथल में पड़ गये। उन्होंने भगवान् के मुखारविन्द से निर्णय कर लेने का विचार किया। फौरन भगवान् के पास आये और पृच्छा करके अपने संशय का निवारण कर लिया।

सज्जनो! भगवान् तो पहले से ही मन की बात जान रहे थे? उनसे तो भूत-भविष्य और वर्तमान काल की बात कोई भी छिपी हुई नहीं थी। गौतम स्वामी ने कहा—"हे भगवन्! मैं आपकी आज्ञा लेकर गोचरी को गया तो आपके अन्तेवासी, श्रमणोपासक अनन्यभक्त आनन्द श्रावक आत्म-साधना में लगे हुए हैं, ऐसा मुझे ज्ञात हुआ। सांसारिक सब प्रपंच छोड़कर वे अपनी

आत्मा के कल्याण मे लगे हुए थे। उन्हें तपस्या और साधना द्वारा आत्म-शुद्धि के सिवा जग का और कोई कार्य रुचिकर नहीं होता था।

सज्जनो! समय में कितना महान् परिवर्तन हो जाता है! तब और अब में सृष्टि की प्रत्येक बात बदली हुई मालूम पड़ती है। आज के मनुष्य अन्तिम अवस्था वृद्धपन आ जाने पर भी सासारिक कार्य नहीं छोड़ पाते। कहते हैं—"महाराज! अभी तो मेरे सब बालक नादान हैं, समझदार नहीं हुए, घर में तो मैं ही अकेला सयाना हूँ।" कितनी नासमझी और पागलपन की बात है? अपने भविष्य के सुधार के लिए कोई तनिक भी प्रयत्न नहीं करना चाहता। समस्त अग-प्रत्यग और इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं किन्तु तृष्णा भगवती निरन्तर बलवती होती जा रही है— आगे बढती जा रही है। लोग कहते हैं—"महाराज! सब कार्य सम्पन्न करके अन्त मे धर्मध्यान तो करना ही है।" पर अरे मूर्ख! इसके पहिले अगर तेरी जीवन लीला ही समाप्त हो गई तो फिर क्या होगा।

कहा है —

> "रह गए काम जगत् के अधूरे, करने वाले होगए पूरे।
> तृष्णा कर कर मर गए मूरे, तृष्णा नाहीं मरती है।"

दुनिया के लोगों का जीवन किस प्रकार व्यतीत हो रहा है, यह श्रीमद् उत्तरा-ध्ययन के चौदहवें अध्ययन मे भगवान् ने बताया है। लोगों की लीला का वर्णन करते हुए उसमे चित्रण किया गया है कि किस उद्दड भाव से ससारी जीव अपना जीवन नष्ट कर रहा है। किस तरह अमूल्यक्षण व्यर्थ बर्बाद करता जा रहा है।

कहा है —

> "इमंच मे अत्थि इम च नत्थि। इमं च मे किच्च, इम अकिच्च।
> तमेव मेव लालप्पमाण, हरा, हरंति त्ति कह पमाओ।"

इसमें यही बताया गया है कि संसारी जीवों की विचारधाराएँ किस प्रकार उथल पुथल होती रहती हैं। मानव विचार करता है कि अमुक वस्तु मेरे घर में, दूकान में है, अमुक वस्तु मेरे पास नहीं है। उसे मुझे प्राप्त करना है। यह काम तो मैंने कर लिया है और वह काम नहीं किया है। घर की दूकान तो बन गई है, पर अभी तीन मंजिली हवेली नहीं बन पाई है। इन लड़कों की शादी तो करली है पर लड़कियों की अभी करनी बाकी है और पुत्र, पौत्रों के लालन पालन, शिक्षा विवाह आदि में ही जीवन समाप्त हो जाता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि तू इधर धन, सम्पत्ति और मान मर्यादा लूटने में लगा हुआ है, पर धीरे धीरे, शान्तिपूर्वक, अन्दर ही अन्दर, चुपचाप तुझे भी कोई लूटता जा रहा है। तू औरों का स्वर्ण, द्रव्य और अर्थ लूट रहा है पर काल तेरा अत्यन्त बहुमूल्य अविनाशी आत्मिक धन-सम्यक्त्व रत्न लूटता चला जा रहा है। तेरे जीवन का एक-एक श्वास लुटता जा रहा है। तस्कर की भांति अनन्त समय से काल तेरा जीवन नष्ट करता जा रहा है। भद्र पुरुषों! इस तरह अपना जीवन बर्बाद न करो। इस उधड़ेबुन में न रहो—"यह कर लिया इतना शेष रह गया है।" "इस फिक्रो इन्तजार में श्यामो सहर गई।"

सज्जनो! एक समय आएगा कि लोग कहेंगे—"चलो, ले चलो।" चार मनुष्य आएँगे और लेकर शरीर को चिता की अग्नि में रख देंगे, मिट्टी में दफना देंगे। जो श्वास चली जा रही है—वह फिर कभी लौट कर नहीं आएगी। वह मास, वह तिथि, वह वार तो फिर आएगा लेकिन उस मास में उस तिथि में, गई हुई श्वास फिर कभी लौट कर नहीं आएगी। इसलिए जो समय मिल गया है, उसका पूरा लाभ उठा लेना चाहिए।

कहा है —

"जाजा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ,
अधम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइयओ।
जाजा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ,
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥"

हे दुनियाँ के लोगों ! तुम माया में क्यों उलझ रहे हो ? क्यों अपना समय नष्ट कर रहे हो ? जो रात्रि और दिवस व्यतीत हो गए हैं, वे आने वाले नहीं हैं। बीतते हुए समय में अगर पाप करोगे, जुल्म करोगे और अत्याचार करोगे तो जीवन वृथा ही है। अगर वृक्ष सर्वदा हरे भरे रहेंगे तो वे सदा मधुर-मधुर फल भी देते ही रहेंगे। जिन्होंने लगाए हुए वृक्षों को समूल नष्ट कर दिया है, उन हत-भागियों को उसके फल कहाँ से प्राप्त होंगे ? जो प्राणी धर्म करता है, सामायिक, संवर और पौषध करता है, साधु और श्रावक के व्रत अंगीकार कर के उनका निर्दोष रूप से पालन करता है, भगवान् ने कहा है कि उनका जीवन उनके रात-दिन और प्रत्येक क्षण पूर्ण सफल होते हैं। उन्हें धर्म रूपी हरे भरे वृक्ष के मधुर फल भी हमेशा प्राप्त होते रहते हैं।

साहूकार ने अपना जो धन व्याज पर लगा रक्खा है, वह तो चाहे रात हो अथवा दिन, निरन्तर बढ़ता ही चला जाएगा। जिन्होंने अपनी श्वासों को धर्म में लगा रक्खा है उनके प्रत्येक श्वास की कीमत बढ़ती जाती है। इसके विपरीत जो अपनी श्वासों को पाप में लगा रहा है उसे धर्म का कोई लाभ नहीं मिल सकता, किन्तु अधर्म का कुफल ही भोगना पड़ेगा।

बन्धुओ। वे आभूषण किस काम के जिनसे शरीर के अंग प्रत्यंग और इन्द्रिया ही टूटने लगें ? वह गले का हार किस उपयोग का जिससे श्वास ही रुकने लगे ? इतना वह कस जाए कि दम भी घुटने लगे। इसी प्रकार उस अधर्ममय जीवन का सुख भी किस काम का जिससे आत्मा का पतन ही होने लग जाय। कवि ने कहा—

उस सुख माथे धूल पडे, जो प्रभु से दूर कराय।
बलिहारी उस दुःख की जो, प्रभु से देत मिलाय॥

कवि कहता है कि उस सुख पर लानत है जो परमात्मा से ही अलग कर दे। इससे तो वह दुःखही अच्छा है जो कि परमात्मा की प्राप्ति करा

देता है। कहने का भाव यह है कि दुनिया के सब कार्य तो अधूरे रह गए किन्तु कार्य करने वाले समाप्त हो गए। जिनकी आयु करोड़ करोड़ पूर्व की, चौरासी चौरासी लाख पूर्व की थी, उन्हें भी अपने कार्य अधूरे छोड़कर जाना पड़ा। अरे प्राणी! तेरी तो थोड़ी सी जिन्दगी है। इसमें तू क्या कर सकेगा? यदि अब भी बुद्धि से काम लेना चाहे तो ले सकता है।

मैं आप से कह रहा था कि गौतम स्वामी भगवान् के पास पहुँचे और कहा—हे भगवान्! मैं सुश्रावक आनन्द जी के पास गया था, जो कि आत्म-साधना कर रहे हैं। मेरी आत्मा उनकी तपस्या और साधना को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। उन्होंने मुझसे प्रश्न किया कि क्या श्रावक को अवधिज्ञान हो सकता है? मैंने उत्तर दिया—हा हो सकता है। पर अवधिज्ञान उतना विशाल और विस्तृत नहीं हो सकता जितना तुम कह रहे हो। मैंने उन्हें गल्ती का प्रायश्चित्त करने के लिए कहा इसके पश्चात् आनन्द ने कहा कि जो मैं कह रहा हूँ वह बिल्कुल सत्य और यथार्थ है। मैंने अपने ज्ञान में ये सभी बातें देखी हैं। मै यह सुनकर सशय में पड़ गया।

सज्जनो! वैसे तो गौतमस्वामी को चार ज्ञान थे और अगर वे ज्ञानों का उपयोग करते तो तत्क्षण सब कुछ निर्णय कर सकते थे। किन्तु इतना होते हुए भी उन्होंने भगवान् महावीर स्वामी से इस सम्बन्ध में पूछना ही उचित समझा। महापुरुषों के लक्षण यही होते हैं। प्रत्येक के जीवन में कुछ सिद्धान्त होने चाहिए, जिसके अनुसार उसे चलना चाहिए। आजकल के व्यक्ति स्वार्थ को लेकर चलते हैं। आजकल दुनिया में जितनी भी अनुचित क्रियाएं चल रही हैं, सब स्वार्थ के लिए ही हैं। सज्जनो! आज धर्म के कार्यों में, साधना के कार्यों में स्वार्थ बुद्धि ही सर्वत्र रहा करती है। निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार कुछ काम नहीं होता। कभी कुछ और कभी कुछ। धोखा देने वाले अथवा स्वार्थ साधने के लिए सभी अनुचित उपायों को काम में ले लेते हैं। अवसर-

वादियो, तुम्हारे जीवन का कोई सिद्धान्त स्थिर होना ही चाहिए। उसके विना जीवन पिछड़ जाया करता है। वह अपने ध्येय को कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

मनुष्य के लिए ससार और धर्म अलग-अलग होने चाहिए। ससारी वातों को धर्म के मामले में नहीं लाना चाहिए। रोहतक के पास 'कानी' नामका एक गाव था। वहाँ थोकड़ों के जानकार एक श्रावक जी रहा करते थे। आप जानते ही होगे कि राग और द्वेष की अग्नि वड़ी भयकर और खतरनाक होती है। इसकी ज्वाला वडे-वडे ऋषि, मुनि और महात्माओं को भी अपनी लपेट में ले लेती है। ऐसा सुनने मे आया कि वहा के उन श्रावक को अपने ही भाइयों ने मुसलमानों के द्वारा मरवा डाला। द्वेष में मनुष्य अधा हो जाता है। वहुत लड़ाई झगडे हुए वहुत मुकद्दमे चले, यहा तक कि समाज दो भागों में विभक्त हो गया, दो धडे पढ गए। अत्यन्त द्वेष और वैमनस्य होने पर भी इतनी वात अवश्य थी कि जव कोई मुनि महात्मा आते और एक धडे वालों के किसी मकान मे ठहर जाते तो सभी लोग उत्साह पूर्वक विना भेद भाव के दर्शन करने के लिए और व्याख्यान श्रवण के लिए आते थे। वे कहते थे कि हमारी लड़ाई सासारिक कार्यों में है, पारमार्थिक कार्यों मे नहीं। हम यहा आते हैं तो सन्तो के पास, किसी अन्य व्यक्ति विशेष के पास नहीं। इसीलिए मैं कहता हूं कि मनुष्य के कुछ सिद्धान्त-नियम और मर्यादाए होनी ही चाहिए। ससार के प्रपचों को लेकर धर्म को भी छोड़ देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? आपसी घरेलू वैमनस्य और द्वेष धार्मिक क्षेत्र मे लाने से क्या लाभ होगा?

तो मै कह रहा था कि गौतमस्वामी के कथन पर भगवान् महावीर स्वामी ने निर्णय दिया कि आनन्द का कथन सत्य है। तुम भूल पर हो और तुम्हें इस भूल की आलोचना करनी चाहिए। पश्चात्ताप करके आत्मा को शुद्ध करना चाहिए। श्री गौतमस्वामी ने जो चौदह हजार मुनियों में शिरोमणि थे, अपनी

भूल को स्वीकार किया। महावीर स्वामी ने भी अपना निर्णय देने में इस बात का विचार नहीं किया कि गौतम मेरा सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय शिष्य है। उन्होंने यह भी न सोचा कि इससे गौतम की मानहानि होगी। न्याय और सत्य ससार में किसी के मानापमान की अपेक्षा नहीं करते—वहा इनका कभी प्रश्न ही नहीं उठता।

कहने का तात्पर्य यह है कि भूल छद्मस्थ से ही होती है, सर्वज्ञ से कदापि नहीं। साधु को भी आकांक्षा मोहनीय कर्म का उदय हो सकता है। भूल हो जाना, शका हो जाना महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु ज्ञानियो से पूछकर शंका का समाधान कर लेना चाहिए।

शास्त्रों ने शरीर अवगाहना और आयु को विशेप महत्व नहीं दिया है, महत्व की वस्तु 'दर्शन' है। वह पशु, मनुष्य से कई गुना श्रेष्ठ है जिसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है। उसका स्थान सम्यक्त्व हीन मनुष्यों से हमेशा बहुत ऊंचा रहेगा। सज्जनो! शरीर की स्थूलता और विशालता नगण्य ही होती है। सम्यक्त्व ही अत्यन्त बहुमूल्य वस्तु है। जिस मनुष्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, वह धन्य है और जिसको नहीं वह धिक्कारने के योग्य ही है।

शास्त्रकार कहते हैं—

> "लद्धूण वि उत्तमं सुई, सद्दहणा पुनरावि दुल्लहा।
> मिच्छत्त निसेवए जणे, समयं गोयम मा पमायए॥"

प्रथम तो उत्तम सूत्र का श्रवण करना ही दुर्लभ है और कदाचित् श्रवण करने को मिल भी जाए तो उस पर श्रद्धा होना कठिन है। ससार में मिथ्यात्व का प्रचार और सेवन करने वाले मनुष्य बहुत हैं। सुन लेना दूसरी बात है और हृदयों मे पूर्ण रूप से विश्वास कर लेना दूसरी। आप लोगों ने सुनते सुनते वर्षों विता दिये किन्तु आज भी आप वहीं है, जहा पहले थे आगे नहीं बढे हैं, किन्तु पीछे ही खिसके हैं इसका कारण यही है कि सम्यक्त्व ने आपके

हृदयों में अच्छी तरह स्थान नहीं बनाया है। इसीलिए जीवन लोभ तृष्णा और मोह में ही व्यतीत हो रहा है। लोभ भी एक विडम्बना ही है। जहा मिथ्यात्व का उदय होता है वहा तृष्णा का वेग भी बढ जाता है।

एक सेठ था। उसके पास धन-ऐश्वर्य अपार था। परन्तु वह लालची और कृपण था। न तो स्वयं धन का उपभोग करता था और न करने देता था। एक बार जब श्राद्ध के दिन आए तो सेठानी ने कहा कि कल आपके पिताजी के श्राद्ध का दिन है। यह सुनते ही सेठ का विचार आया—"हाय, अब ब्राह्मणों को भोजन करना पडेगा और कुछ खर्च भी करना पड़ेगा। आप तो जानते ही होंगे कि गुरु की आज्ञा तो टाली जा सकती है किन्तु जगदम्बा की आज्ञा का पालन तो करना ही पड़ता है। अत सेठ ने ऊपरी मन से कह दिया कि—"हाँ, श्राद्ध तो करना ही होगा। मैं किसी ब्राह्मण को कल भेज दूँगा सेठ एक ब्राह्मण के घर गया और पूछा कि कल तुम्हारा निमन्त्रण मेरे घर पर है, तुम्हारी खुराक कितनी है, ताकि उसी अनुसार से भोजन बनवाया जाय? ब्राह्मण सेठ की बातो से समझ गया कि यह बहुत लालची मालूम होता है। अत उसने कहा—"सेठजी! मेरी खुराक का कुछ न पूछिए, सिर्फ पात्रभर अनाज खाता हूँ।" सेठ ने सोचा कि अच्छा हुआ। थोड़े म ही काम निकल जाएगा। पिता भी तृप्त हो जाएँगे। वे ब्राह्मण को कल के लिए निमंत्रण देकर आगए। उन्होंने सेठानी से कह दिया कि कल अमुक समय पर रविदत्त जी पंडित आएँगे, उन्हे तुम भोजन करा देना और ऐसा कह कर वे दूकान पर चले गए। सेठानी ने बाद में सोचा—मेरे ससुर जी तो बहुत धन-ऐश्वर्य छोड़ कर गए है और अगर उनके निमित्त थोडा-सा भी खर्च न किया तो मच किस काम का? ऐसा सोच कर उसने श्राद्ध के निमित्त हलुआ, पूरी, खीर आदि तरह-तरह के मिष्ठान्न और व्यंजन बनाए। दूसरे दिन नियत समय पर पडित जी आ पहुंचे। सेठानी ने उन्हें आदर सहित बैठाया। पाँच

धोए। और पितृ तर्पण करने के बाद प्रेम के साथ उन्हें भोजन कराया। पंडित जी ने भी बड़े प्रेम से तीन-चार दिन का भोजन एक साथ ही उदरस्थ कर लिया। भोजन के बाद उन्होंने कहा—सेठजी कल मुझे दस स्वर्ण मुहरों की दक्षिणा देने के लिए कह गए थे। यदि आप देना चाहें तो दीजिए, अन्यथा मैं जा रहा हूँ। सेठानी ने कहा—कि यह तो बहुत अच्छी बात है। अगर सेठ जी की भावना ऐसी है तो मैं उसमें बाधक नहीं बनना चाहती है। उसने प्रसन्नता से मुहरें लाकर दे दीं। ब्राह्मण उन्हें लेकर अपने घर आया और अन्दर कमरे में जाकर सो गया। उसने अपनी पत्नी को समझा दिया कि सेठ अगर आए तो कह देना कि—"दुष्ट ! तूने तो भोजन में विष मिला कर मेरे ऊपर महान् अनर्थ कर डाला और मेरा सौभाग्य ही मुझसे छीन लिया।" जब सेठ घर पर आए तो उन्होंने सेठानी से पंडित जी के बारे में पूछा। सेठानी ने कहा—'मैंने उन्हें भोजन करा दिया और आपके कथनानुसार दस स्वर्ण-मुद्राएँ भी दक्षिणा में दे दीं।' यह सुनते ही सेठजी के होशहवास गायब होगए, श्वास फूल गया और चेहरे से पसीने के कण भी टपकने लगे। वे भोजन करना तो भूल गए और सीधे ब्राह्मण के घर जा पहुँचे। जाते ही उन्होंने देखा कि ब्राह्मणी जोरों से रो-रो कर विलाप कर रही है। सेठजी ने उससे पूछा पंडित जी कहाँ हैं ? ब्राह्मणी ने रोते हुए कहा—'अरे दुष्ट ! पंडितजी-पंडितजी अब क्या करता है ? मैं तो लुट गई। हाय ! मेरे ऊपर अनर्थ होगया। तुमने उन्हें जहर देकर मेरा सत्यानाश ही कर डाला। हाय, हाय !' यह सुन कर सेठजी अपने शरीर की सुध-बुध भूलकर एकदम किंकर्तव्य विमूढ होगए। चुपचाप हाँफते हुए किसी तरह घर आए। उन्होंने सेठानी से कहा कि यहाँ अगर कोई पूछ-ताछ करने आए तो कहना कि हमने पंडितजी को न तो खाना ही खिलाया और न कोई दक्षिणा ही दी। इस तरह सेठ का हाल बहुत खराब हुआ। भय और चिन्ता के कारण उनका मन बहुत ही अशान्त और व्यथित होगया।

सज्जनो ! कृपणों का यही हाल होता है। धन उपार्जन करने वाले करते-करते समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य का शरीर मिला है तो उसका पूरी तरह उपयोग करो। आत्मा में रमण करो—साधना, तपस्या और त्याग द्वारा उसे पवित्र और पवित्रतम बनाकर कषायमल दूर करो और संसार-सागर से पार होकर निर्वाण के अविनाशी सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करो।

ब्यावर
१४-८-५६

—×—

७

उपदेशदाता का दायित्व

वीर सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीर बुधा संश्रिता
वीरेणाभिहत स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचय हे वीर ! भद्र दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायका
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिन कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

सभ्य पुरुषो तथा बहिनो ! कल कहा था कि केवल मानव का शरीर मिल जाने से ही कार्य सिद्ध नहीं हो जाता । मानव-शरीर के साथ मानव की विशेषताएं भी आनी चाहिए । उन मानवीय विशेषताओं मे एक मूलभूत विशेषता है—सम्यक्त्व ।

उत्तराध्ययन सूत्र मे जीव को जिन चार अंगो की प्राप्ति दुर्लभ बतलाई है, उनमे 'माणुसत्त' अर्थात् मनुष्यत्व को सर्वप्रथम दुर्लभ कहा है । विशेष ध्यान देने की बात यह है कि शास्त्रकार ने मनुष्य-शरीर को दुर्लभ न कह

कर 'मनुष्यत्व' को दुर्लभ कहा है। इसका मर्म यह है कि अनेक मनुष्यों में मनुष्यत्व नहीं पाया जाता। वे मानवीय आकृति पाकर भी वास्तविक मानव नहीं बन पाते। कोरी मानव-आकृति से क्या लाभ है? वह तो वनमानुस को भी प्राप्त होती है। मानव-आकृति में अगर मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा हुई, तब तो वह सार्थक है अन्यथा निरर्थक है।

मनुष्यत्व क्या है? कौन-सी रेखा है जो मनुष्य को इतर प्राणियों से विभिन्न बनाती है? इसका उत्तर कल दिया गया था कि धर्म ही मनुष्य की विशेषता है। धर्म की आराधना करने की योग्यता जैसी मनुष्य में है, अन्य प्राणियों में नहीं है। अतएव धर्म की विशिष्टता के कारण ही मनुष्य भाव की श्रेष्ठता है।

मानव जीवन में जबतक मानवता नहीं आती, तब तक न धर्म की आराधना हो सकती है और न सम्यग्दर्शन ही आ सकता है। मानवता समकित की भूमिका तैयार करती है।

मनुष्य को कोई इमारत खड़ी करनी है तो पहले ऊबड़खाबड़ भूमि पाट कर बराबर कर ली जाती है। और फिर दूसरी कारवाई आरम्भ की जाती है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन की इमारत खड़ी करने के लिए, सुन्दर भवन का निर्माण करने के लिए, जीवन में बैठी हुई मूलभूत बुराइयों को, मानवता विरोधी तत्वों को, जिनके कारण जीवन अस्त व्यस्त हो रहा है, निकाल कर फेंकना आवश्यक है। उन्हें हटाये बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता।

ताकत की दवा तभी दी जाती है, जब शरीर में से रोग पूरी तरह निकल जाय। किसी मनुष्य को, शरीर में शक्ति का सचार करने के लिए बलवर्द्धक और शक्तिप्रद औषध लेनी है, तो उसे पहले शरीर को रोग-रहित बनाना पड़ेगा। रुग्णावस्था में बलवर्द्धक औषध देना और लेना विचारणीय होता है। इससे हानि पहुंचने की सभावना है। इसमें न दवा देने वाले की बुद्धिमत्ता है और न लेने वाले की।

इसी प्रकार जब तक जीवन में मिथ्यात्व रूपी रोग विद्यमान है, तब तक अन्य कोई औषध काम नहीं आती। अतएव सर्वप्रथम मिथ्यात्वरोग हटाने का ही प्रयत्न करना चाहिए। मिथ्यादृष्टि को कितना ही कहा जाय, हित की बात समझाई जाय, उसे पसद नहीं आती। और कदाचित पसद आ जाय तो वह इसके लिए यथेष्ट लाभदायक नहीं सिद्ध होती। अतएव अन्यान्य बीमारियों का इलाज करने से पहले मिथ्यात्व-रोग का इलाज होना चाहिए। उसके लिए सम्यक्त्व ही एक मात्र अमोघ औषध है।

मगर सम्यक्त्व से पहले मानवता आनी चाहिए। जीवन के विकासक्रम में पहले मानवता का दर्जा है।

मानवता वह विशिष्ट गुण है, जिसके ऊपर मनुष्य-जीवन टिका हुआ है। सदाचार, सहिष्णुता, सद्भाव, सहानुभूति, दीन-दुखियों के साथ सहयोग और प्राणी मात्र के प्रति प्रीति होना ही मानवता है। ये गुण मानवता के बोधक हैं, सूचक हैं। ये साधारण गुण हैं। जिस प्रकार मनुष्यों को दाल, रोटी, चॉवल आदि तो खाने ही पड़ते हैं, यह मनुष्य की साधारण खुराक है, अर्थात् जीवन के लिए अनिवार्य खुराक है। किन्तु जब त्योहार आता है तो माल बनाया जाता है, कोई विशिष्ट भोजन बनाया जाता है। वह विशिष्ट भोजन हमेशा नहीं होता, कभी-कभी ही होता है। इसी प्रकार मानवता के साधारण गुण तो दाल-रोटी के समान हैं, जिनके बिना मानवता रूपी जीवन टिक ही नहीं सकता। सम्यक्त्व त्यौहार के समय बनने वाले भोजन के समान है। यह कभी-कभी मिलता है। इसके प्रति भी उपेक्षा नही होनी चाहिए।

[सज्जनो! आपमें से कितनेक लोग माला फेर कर और आनुपूर्वी गिन कर उसे माथे से लगाते हैं और आखा पर लगाते हैं। तो क्या इसके पीछे भी कोई महत्वपूर्ण योजना है? आपका न कोई उद्देश्य है और न गुण-अवगुण का विचार है। किस गुरु ने आपको पढ़ाया है कि माला और आनुपूर्वी आप ललाट पर रगड़ो? माला जपने के लिए है, न कि मस्तक

या पेट का दर्द मिटाने के लिए। कहीं आख का दर्द मिटते-मिटते मणिया आख में लग गया तो फिर लेने के देने पड़ जाएगे। मगर अनेक कुरूढिया, कुप्रथाए मनुष्य के पीछे हाथ धो कर पड़ गई है। अगर इसमें कोई महत्व है तो मुझे भी समझा दो। मैं भी सत्य बात स्वीकार कर लू गा। अगर आप नहीं समझा सकते तो मैं क्या विश्वास कर लू कि आगे आप ऐसी भूल नहीं करेंगे? वास्तव में यह सब अज्ञानपूर्ण, मिथ्यात्व सूचक बातें हैं, जिनका आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।]

हा, मूल बात पर आइए। मैं कह रहा था कि बल या शक्ति की दवा तभी उपयोगी सिद्ध होगी, जब रोग दूर हो जाय।

कोई कहते हैं—भगवती सुनाओ, पएणवणा सुनाओ। और कल एक सज्जन बोले कि व्याख्यान दो घटे तक हो तो अच्छा है। मगर दो या चार घटे तक सुनने का फल क्या है? सुने व्याख्यान को जीवन में उतारोगे तो वह थोड़ा भी पर्याप्त है। अगर सुनने का व्यसन मात्र ही है कि चलो महाराज बोलते हैं और हमारी सामायिकें पूरी हो जाती हैं, तो बात दूसरी है। मगर अधिक देर तक व्याख्यान हो या थोड़ी देर तक, कभी व्याख्यान न हो तो भी आपको अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिए।

हाँ, तो मैं ने बतलाया कि जीवन की कीमत समकित के साथ है और समकित का नम्बर आता है मानवता के बाद। जैसे दाल-रोटी प्रतिदिन की खुराक है, साधारण भोजन है और विशेष भोजन कभी-कभी किया जाता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने जीवन मे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विशेष गुण भर सके तो अत्युत्तम है, किन्तु मानवता तो कम से कम होनी ही चाहिए। क्योंकि जहा मानवता नहीं है, वहा समकित का प्रदुर्भाव नहीं हो सकता।

ज्ञानियों ने बतलाया है कि जीवन मे यदि मानवता है—सच्ची मनुष्यता है, तो मनुष्य को कभी न कभी समकित का बोध मिल ही जाता है। जमीन

तैयार होगी तो वर्षा होने पर बीज बो सकते हो। इसी प्रकार मानवता की भूमि तैयार होगी तो उसमें समकित का बीज बोया जा सकेगा।

सज्जनो। ज्ञानी पुरुष बतलाते हैं कि जब जीवन निखर जाता है और मानवता आ जाती है, तो अनेक कारणों में से कोई कारण मिल जाता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। उन अनेक कारणों में से उपदेश भी सम्यक्त्व का एक कारण है। धर्मोपदेश सुनकर अनेक जीवों ने सम्यक्त्व की प्राप्ति की है और मुक्ति पाई है। मगर उपदेश-उपदेश में भी अन्तर है। उसी का उपदेश असर करता है, जिसके निज के जीवन में सम्यक्त्व हो। जिसका जीवन सम्यग्दर्शन से हीन है, वह दूसरे की आत्मा पर रंग नहीं चढा सकता। जिस शिक्षक ने जो पाठ स्वयं नहीं सीखा, वह बच्चों को वह पाठ कैसे पढा सकता है? शिक्षक जो पाठ बालकों को पढ़ाता है, पहले स्वयं ही उसे पढ लेता है। यही बात उपदेशक, वक्ता, व्याख्याता या कथा करने वाले के विषय में भी समझनी चाहिए। यह सब एक के ही नाम हैं। उपदेश-शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'उप' यह उपसर्ग है और 'दिश्' धातु है। 'उप' का अर्थ है—समीप या पास। 'दिश्' धातु का अर्थ है—देशना देना या शिक्षा देना। तो जो पास में आता है, पास में बैठा है या सुनने के लिए आया है, जिसकी उपस्थिति वक्ता के समीप में है, उसे शिक्षा देना ही 'उपदेश' कहलाता है। और 'व्याख्यान' का अर्थ है—किसी तत्व की, पदार्थ की या विषय की अच्छे रूप से, विशद रूप से, खुलासा रूप से व्याख्या करना, विस्तार के साथ उसे समझाना। उपदेश को कथा भी कहते हैं। कथन करने को कथा कहते हैं। किसी विषय को लेकर श्रोताओं के सामने कथन करना कथा है। यह सब समझने के लिए उपदेश के ही नाम हैं, पर्यायवाची शब्द हैं।

सज्जनो! उपदेशदाता की बड़ी जिम्मेवारी है। पाट पर बैठ जाना कठिन नहीं है। परन्तु स्वयं तत्त्व को भली भांति समझ कर श्रोताओं को समझाना

और उनके गले उतारना सरल नहीं है। इसके लिए बड़ी योग्यता की आवश्यकता है। वक्ता में श्रोताओं से अधिक योग्यता होनी चाहिए। जो सब प्रकार से योग्य होता है, वही जनता पर अपना प्रभाव डाल सकता है और उसे अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। वक्ता में अगर पर्याप्त योग्यता न हुई तो उसकी ओर श्रोताओं का खिंचाव नहीं होगा और उसका उपदेश व्यर्थ प्रलाप सिद्ध होगा।

आशय यह है कि वक्ता में कुछ विशेषताए होती हैं, कुछ विशिष्ट गुण होते है। तभी वह सफल वक्ता बन सकता है। प्रश्न हो सकता है कि वक्ता में क्या विशेषताएं होनी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि वक्ता में दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये। उपदेशदाता अपनी श्रद्धा मे मजबूत होगा तो उसके श्रद्धान को कोई डावा डोल नहीं कर सकेगा। वही वक्ता डॉवा डोल मानसिक स्थिति वाले श्रोताओं को सही रास्ते पर ला सकता है। इसके विपरीत जो वक्ता स्वय ही अपनी श्रद्धा से डगमगा रहा है, वह गिरते हुए दूसरों को कैसे सँभाल सकेगा? अतएव वक्ता का श्रद्धान और सम्यक्त्व सुदृढ होना चाहिए।

सज्जनो। मन्दिर के शिखर पर लगी हुई ध्वजा का स्वभाव हिलने का है। किन्तु ध्वजा हिलती है तो हिला करे, मन्दिर तो नहीं हिलता है। यदि मन्दिर ही हिलने लगे, डगमगाने लगे तो ध्वजा किसके सहारे स्थिर रह सकेगी? अतएव वक्ता का दृढ होना आवश्यक है। इमारत की तरह उसकी श्रद्धा की नींव सुदृढ होनी चाहिये। वह रेत पर खड़ी हुई इमारत की तरह नहीं होनी चाहिए। संसारी जीव अनेक प्रकार के प्रलोभनों में पड़कर चलायमान होते रहते हैं, परन्तु वक्ता चलायमान नहीं होना चाहिए।

समरभूमि में जब सेना प्रतिपक्षियों का सामना करने को अग्रसर होती है, अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होती है, उस समय प्रेरणा देने वाला और सेना को प्राण प्रण से जूझने के लिए उत्साहित करने वाला अगर कोई होता है, तो वह सेनापति होता है। उस सेनापति के बल, प्रेरणा पर

और दृढ़ता पर ही सैनिक युद्ध क्षेत्र में, आगे से आगे, प्रतिपक्षी की तरफ बढ़ते हैं। सेनापति की प्रेरणा पर ही प्रतिपक्षी-सेना पर विजय प्राप्त की जाती है और अपने देश एवं राष्ट्र की रक्षा की जाती है। इस प्रकार विरोधियों पर विजय-प्राप्ति सेनापति पर निर्भर है। सेनापति का साहस, उत्साह, शौर्य, समर कौशल और धैर्य इतना दृढ होना चाहिये कि वह किसी भी स्थिति में पराजित न हो।

जो सेनापति स्वयं कायर है प्रतिपक्षी के शस्त्रबल और सैनिक समूह को देख कर मैदान छोड़ कर भाग जाता है तो सेना किस के बल-बूते पर ठहर सकेगी? उसे भी भागते देर नहीं लगेगी। सेनापति के बिना सेना टिक नहीं सकती।

सच्चे वीर योद्धा सोच-समझ कर कदम बढाते हैं और जब कदम बढ़ा देते हैं तो फिर पीछे नहीं हटते। वे धनी के नाम पर मर मिटते हैं, प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं मगर विमुख नहीं होते।

सेनापति में ऐसी दृढ़ता चाहिए। उसकी विचारधारा निश्चित होनी चाहिये। वह समरांगण में जाता है तो जान हथेली पर लेकर जाना चाहिए। अगर वह मैदान में जाकर भागता है तो इससे अधिक कलंक और लज्जा की बात दूसरी नहीं हो सकती। उसके भाग जाने के बाद सेना के पैर नहीं टिक सकते।

तो जो बात भौतिक युद्ध के विषय में है, वही आध्यात्मिक युद्ध के विषय में भी है। धर्म के क्षेत्र में, अध्यात्म के रणांगण में कर्म-शत्रुओं से मुकाबिला करना है। मिथ्यात्व रूपी प्रतिपक्षी से डट कर लोहा लेना है और उस पर विजय प्राप्त करना है। इस युद्ध में वक्ता सेनापति के समान है। वही अपनी सेना को आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढाने वाला है। अगर वह अपनी सेना को समकित के क्षेत्र से हटाकर मिथ्यात्व की तरफ ले जाता है तो फिर उसे रास्ता खोजना भी कठिन हो जाएगा।

और उनके गले उतारना सरल नहीं है। इसके लिए बड़ी योग्यता की आवश्यकता है। वक्ता में श्रोताओं से अधिक योग्यता होनी चाहिए। जो सब प्रकार से योग्य होता है, वही जनता पर अपना प्रभाव डाल सकता है और उसे अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। वक्ता में अगर पर्याप्त योग्यता न हुई तो उसकी ओर श्रोताओं का खिंचाव नहीं होगा और उसका उपदेश व्यर्थ प्रलाप सिद्ध होगा।

आशय यह है कि वक्ता में कुछ विशेषताएं होती हैं, कुछ विशिष्ट गुण होते है। तभी वह सफल वक्ता बन सकता है। प्रश्न हो सकता है कि वक्ता में क्या विशेषताएं होनी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि वक्ता में दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये। उपदेशदाता अपनी श्रद्धा में मजबूत होगा तो उसके श्रद्धान को कोई डावा डोल नहीं कर सकेगा। वही वक्ता डॉवा डोल मानसिक स्थिति वाले श्रोताओं को सही रास्ते पर ला सकता है। इसके विपरीत जो वक्ता स्वय ही अपनी श्रद्धा से डगमगा रहा है, वह गिरते हुए दूसरों को कैसे सँभाल सकेगा? अतएव वक्ता का श्रद्धान और सम्यक्त्व सुदृढ़ होना चाहिए।

सज्जनो! मन्दिर के शिखर पर लगी हुई ध्वजा का स्वभाव हिलने का है। किन्तु ध्वजा हिलती है तो हिला करे, मन्दिर तो नहीं हिलता है। यदि मन्दिर ही हिलने लगे, डगमगाने लगे तो ध्वजा किसके सहारे स्थिर रह सकेगी? अतएव वक्ता का दृढ होना आवश्यक है। इमारत की तरह उसकी श्रद्धा की नींव सुदृढ होनी चाहिये। वह रेत पर खड़ी हुई इमारत की तरह नहीं होनी चाहिए। संसारी जीव अनेक प्रकार के प्रलोभनों में पड़कर चलायमान होते रहते हैं, परन्तु वक्ता चलायमान नहीं होना चाहिए।

समरभूमि में जब सेना प्रतिपक्षियों का सामना करने को अग्रसर होती है, अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होती है, उस समय प्रेरणा देने वाला और सेना को प्राण प्रण से जूझने के लिए उत्साहित करने वाला अगर कोई होता है, तो वह सेनापति होता है। उस सेनापति के बल, प्रेरणा पर

और दृढ़ता पर ही सैनिक युद्ध क्षेत्र में, आगे से आगे, प्रतिपक्षी की तरफ बढ़ते हैं। सेनापति की प्रेरणा पर ही प्रतिपक्षी-सेना पर विजय प्राप्त की जाती है और अपने देश एव राष्ट्र की रक्षा की जाती है। इस प्रकार विरोधियों पर विजय-प्राप्ति सेनापति पर निर्भर है। सेनापति का साहस, उत्साह, शौर्य, समर कौशल और धैर्य इतना दृढ़ होना चाहिये कि वह किसी भी स्थिति में पराजित न हो।

जो सेनापति स्वयं कायर है प्रतिपक्षी के शस्त्रबल और सैनिक समूह को देख कर मैदान छोड़ कर भाग जाता है तो सेना किस के बल-बूते पर ठहर सकेगी ? उसे भी भागते देर नहीं लगेगी। सेनापति के बिना सेना टिक नहीं सकती।

सच्चे वीर योद्धा सोच-समझ कर कदम बढ़ाते हैं और जब कदम बढ़ा देते हैं तो फिर पीछे नहीं हटते। वे धनी के नाम पर मर मिटते हैं, प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं मगर विमुख नहीं होते।

सेनापति में ऐसी दृढता चाहिए। उसकी विचारधारा निश्चित होनी चाहिये। वह समरागण में जाता है तो जान हथेली पर लेकर जाना चाहिए। अगर वह मैदान में जाकर भागता है तो इससे अधिक कलक और लज्जा की बात दूसरी नहीं हो सकती। उसके भाग जाने के बाद सेना के पैर नहीं टिक सकते।

तो जो बात भौतिक युद्ध के विषय मे है, वही आध्यात्मिक युद्ध के विषय में भी है। धर्म के क्षेत्र में, अध्यात्म के रणागण में कर्म-शत्रुओं से मुकाबिला करना है। मिथ्यात्व रूपी प्रतिपक्षी से डट कर लोहा लेना है और उस पर विजय प्राप्त करना है। इस युद्ध में वक्ता सेनापति के समान है। वही अपनी सेना को आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ाने वाला है। अगर वह अपनी सेना को समकित के क्षेत्र से हटाकर मिथ्यात्व की तरफ ले जाता है तो फिर उसे रास्ता खोजना भी कठिन हो जाएगा।

आज कितनेक सैनिक अस्तव्यस्त हो रहे हैं, उनका जीवन स्थिर नहीं है और कोई किधर तो कोई किधर भाग रहा है। ऐसे लोग मिथ्यात्व रूपी शत्रु का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि सेनापतियों ने उन्हें ठीक रूप में प्रेरणा नहीं दी है। जिस रूप में प्रेरणा मिलनी चाहिए थी, उस रूप में नहीं मिल पाई है।

इसलिए मैं कहता हूं कि जिस धर्मोपदेष्टा के द्वारा श्रद्धान दृढ़ करना है, सम्यक्त्व पाना है, उसका श्रद्धान तो दृढ़ होना ही चाहिए। वक्ता की यह सब से पहली और प्रधान विशेषता है। केवल पाट पर बैठ जाने से ही कोई सफल वक्ता नहीं बन सकता।

सज्जनो! पजाब में आर्य समाज का बहुत जोर है। वहा ईश्वर कर्तृत्ववाद का खण्डन और अकर्तृत्ववाद का समर्थन सर्व साधारण जनता के सामने करना कोई मामूली बात नहीं। वहा मेरे प्राय पब्लिक लेक्चर सार्वजनिक व्याख्यान होते थे। पजाब में दूसरे भी साधु थे। वे कहने लगे—हम भी सार्वजनिक व्याख्यान देंगे। खैर साहब, वे बैठ गये भाषण देने और वह भी शेर की दाढ़ में हाथ डालने। उन्होंने व्याख्यान तो सार्वजनिक दे दिया, पर कर्तृत्व का खडन करने के बदले मंडन कर गये। उसका समर्थन करने लगे। वहां जो समझदार श्रावक थे, उन्होंने बतलाया कि आज तो बड़ी भारी भूल हो गई। तब मैंने कहा साधु को इस क्षेत्र का अनुभव नहीं है। कहावत है—

उतने पैर पसारिए, जितनी लाबी सौर।

इसलिए भगवान् महावीर स्वामी दशवैकालिक सूत्र में कहते हैं—हे साधु, हे श्रावक! ऐ कार्यकर्त्ता! तू अपने बल और सामर्थ्य को पहले देख ले और फिर किसी काम को हाथ में ले। अपने बल और सामर्थ्य का विचार किये बिना ही किसी काम को हाथ में लेगा तो अन्त में असफलता का मुह देखना पड़ेगा।

यहा वल और सामर्थ्य-दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। वल शारीरिक शक्ति का द्योतक है और सामर्थ्य शब्द मानसिक शक्ति का। किसी भी-कार्य को करने के लिए शारीरिक वल की भी आवश्यकता होती है। किसी तपैदिक के मारे से कहा जाय कि तू तपस्या कर ले, बेला तेला या अठाई कर ले, श्रमदान कर अथवा सेवा का लाभ दे, तो उसके लिए यह सब कैसे शक्य हो सकता है? उसे तो अपने शरीर का वोझ सम्हालना ही भारी हो रहा है।

कई आदमी ऐसे भी देखे जाते हैं जिनमें शरीर वल तो पर्याप्त है, पर मनोबल नहीं होता। परन्तु मनोवल के अभाव में भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। मन में उमग होनी चाहिए, उत्साह चाहिए, सलग्नता भी चाहिए। इन्हीं के सहारे कार्य की सिद्धि होती है। जिसके मन में ऐसा सुदृढ सकल्प होता है कि—

कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि।

अर्थात् या तो मैं इस कार्य को पूर्ण करूँगा अथवा शरीर का त्याग कर दूँगा।

तभी कार्य सिद्ध होता है। मगर वहुत-से आदमी शरीर के मोटे होते हैं, किन्तु मन के वहुत निर्वल होते हैं। साधारण-सी विपत्ति आ जाय या कोई प्रतिकूल घटना घटित हो जाय तो तव वे निराश और हताश हो जाते हैं और प्रारम्भ किये कार्य का त्याग कर वैठते हैं। मगर किसी कार्य को प्रारम्भ न करना उतना बुरा नहीं है, जितना कि प्रारम्भ किये कार्य को विघ्नों के भय से वीच ही में छोड़ देना बुरा है। ऐसा करना लज्जा की वात है। तात्पर्य यह है कि शारीरिक वल के साथ मनोवल भी अपेक्षित है। शास्त्र में दर्शनवल, ज्ञानवल, चारित्रवल, मनोवल, वचनवल और कायवल आदि-आदि शक्तियों का प्रतिपादन किया गया है। इनके विना काम चलने वाला नहीं है।

सज्जनो! ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि वक्ता में भी साहस होना चाहिए, उत्साह होना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा वह ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को और

उठाए हुए भार को मंजिल तक पहुंचा सकता है। उसकी श्रद्धा में कमी होगी, अस्थिरता होगी, तो वह श्रोताओं को दृढ़ नहीं बना सकेगा। वृक्ष दृढ़ होगा तो उसकी शाखाएं और प्रशाखाएँ भी मजबूत रहेंगी। पेड़ ही डिगने लगेगा तो फिर उसके फल, फूल आदि भी स्थिर नहीं रह सकते। श्रोता शाखाओं और पत्तों के समान हैं और वक्ता पेड़ के धड़ के समान है। यह श्रोता रूपी फल, फूल और पत्ते वक्ता की मज़बूती पर निर्भर हैं। इसीलिए बतलाया गया है कि वक्ता सुदृढ़ श्रद्धानवान् होना चाहिए। कितनी ही कठोर परीक्षा क्यों न ली जाय, उसमें उत्तीर्ण होना चाहिए।

आप जानते हैं कि जहाँ धन होता है, वहीं चोर आते हैं। किसी कंगाल के घर में चोर नहीं घुसते। पशु-पक्षी भी उसी सरोवर के पास जाते हैं, जहाँ जल होता है। भ्रमर उन्हीं फूलों के समीप मँडराते हैं, जिनमें सुगन्ध होती है। फूलों की सुगन्ध को जब अर्क या इत्र के रूप में लाते हैं तो फूलों को कितना कष्ट उठाना पड़ता है। उन्हें तोड़-मरोड़ कर भट्टी पर चढ़ाया जाता है और खूब ताव देकर उनमें से अर्क निकालते हैं।

कई लोग कहते हैं—आप धर्म करने के लिए पुन पुन प्रेरणा करते हैं, किन्तु आज धर्म करने वाले ही अधिक दुखी दिखाई देते हैं। किन्तु देवानुप्रिय। आपको यह मालूम नहीं कि जहाँ धन होता है वहीं चोर आते हैं। मगर धन कमाने का उसी को अधिकार है जो धन की रक्षा करना जानता हो। और जो धन की रक्षा करना नहीं जानता वह धन कमा कर एक प्रकार से मृत्यु को बुलावा देता है। जिन फूलों में सुगन्ध होती है, उन्हीं को तोड़ा-मरोड़ा जाता है। सोना ही आग में तपाया जाता है। इसी प्रकार धर्मनिष्ठ पुरुष की हो परीक्षा होती है। अतएव जब परीक्षा का अवसर आए तो दृढ़ रहना चाहिए, विचलित नहीं होना चाहिए।

तो वक्ता का प्रथम गुण यही है कि उसका श्रद्धान दृढ हो। उसमें दूसरी विशेषता शास्त्र-वाचन की कुशलता है। जैसे पानी का प्रवाह अनवरुद्ध गति

से चलता है, उसी प्रकार वक्ता को भी अनवरुद्ध गति से शास्त्र का वाचन करना चाहिए। जो भी वात कहे, अटके विना स्पष्ट रूप से और ठीक ढग से कहना चाहिए। जो शास्त्र का शुद्ध पाठ ही नहीं पढ़ सकता, वह श्रोताओं को समझाएगा कैसे। वह वच्चों की तरह अटक-अटक कर पढ़ेगा तो, उतने समय में तो गाड़ी ही निकल जाएगी। अतएव वक्ता को शास्त्र-वाचन मे कुशल होना चाहिए। शास्त्र का अशुद्ध वाचन भी दोष का कारण है। अतएव पहली वात यह है कि उच्चारण शुद्ध होना चाहिए। ऐसा होने पर ही वक्ता सफल हो सकता है। वक्ता का वाचन धारावाही नहीं और उच्चारण शुद्ध नहीं है तो श्रोताओं पर असर नहीं पड़ेगा। जिसे मूल पाठ पढने पर ही काबू नहीं है, वह उसका अर्थ कैसे समझाएगा? शब्दार्थ का वोध हुए विना शास्त्रीय भावों को व्यक्त करना कठिन होता है। पहले के साधु-वक्ता तो टव्वे देख कर और 'एटला-जेटला' करके अपना काम निकाल लेते थे, किन्तु आज इस प्रकार काम नहीं चल सकता। आज के श्रोता हिन्दी साहित्य में अपना दखल रखते हैं। भाषा सम्बन्धी शिक्षा का पहले की अपेक्षा अब अधिक प्रचार हो चुका है। अतएव आधुनिक श्रोता इस प्रकार बोलने में रस नहीं ले सकते। वे आज थोड़े-से समय में और अपनी ही भाषा में वहुत-सी वातें धारावाहिक रूप में सुन लेना चाहते हैं। अतएव वक्ता को शुद्ध, स्पष्ट और धारावाही शब्दप्रयोग करना आवश्यक है।

वक्ता की तीसरी विशेषता है—दीर्घदृष्टि! शास्त्रों मे अनेक प्रकार की ध्वनिया हैं, अपेक्षाए हैं और अनेक प्रकार के भाव छिपे हुए हैं। कहीं निश्चय-नय की मुख्यता से कथन किया गया है तो कहीं व्यवहारनय की प्रधानता से कोई कथन किया गया है। वक्ता में ऐसी योग्यता होनी चाहिए कि वह उन ध्वनियों की अन्तरग आत्मा को पहचान सके, वह ऊपर ही ऊपर तैरने वाला न हो। जैसे मोती ऊपर ही ऊपर तैरने से नहीं मिलता, किन्तु गहरा गोता लगाने से मिलता है, उसी प्रकार वक्ता जव तक शास्त्र के आन्तरिक

भावों की आत्मा को नहीं छू लेता, तब तक उसे वास्तविक मर्म का पता नहीं लग सकता। अतएव वक्ता को निश्चय और व्यवहार-दोनों नयों का ज्ञाता होना चाहिए। जहा निश्चयनय की प्ररूपणा हो वहा वैसा ही कथन करना चाहिए और श्रोताओं को बतलाना चाहिए कि यहा कौन-सा दृष्टिकोण प्रधान है। और जब व्यवहारनय का कथन हो तो वहा उसी के अनुसार कथन करना चाहिए। निश्चय और व्यवहार-दोनों ही वस्तु के बोधक हैं, दिग्दर्शन कराने वाले हैं, किन्तु अपने-अपने स्थान पर अलग-अलग हैं। निश्चयनय अपने ढग से और व्यवहारनय अपने तरीके से पदार्थ की प्ररूपणा करता है। निश्चय नय वस्तु के शुद्ध रूप का निरूपण करता है। व्यवहारनय वस्तु के बाह्य भावों का, विकारी भावों का कथन करता है। इन दोनों नयों का अन्तर समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए।

प्राय आप सभी के घर में काच होगा! आप प्रात काल उठते ही चर्म-देवता का दर्शन करते होंगे, ताकि किसी दूसरे की शक्ल दिखाई न दे जाय। और आजकल के बाबू लोग तो अकसर जेब में ही काच रख लेते हैं। खैर, इससे हमें प्रयोजन नहीं। हमारा आशय यह है कि काच किसी वस्तु का दिग्दर्शन करता है। आपके पास जो काच है, वह साधारण है और वह शरीर की बाह्य अवस्था का दिग्दर्शक है। मगर एक होता है बड़े-बड़े अस्पतालों में एक्स-रे का शीशा। वह भी एक प्रकार का काच ही होता है, किन्तु साधारण काच से उसमें विशेषता होती है। वह भीतरी वस्तु को दिखलाता है। एक्स-रे शरीर के अन्दर की विकृति या शरीर के भीतर के नुक्स को बतलाता है। किसी फैफड़े में खराबी आ गई है, नस में पानी भर गया है, हड्डी में चोट आ गई है या पेट में सुई चली गई है, तो वह यों दिखाई नहीं देती। साधारण काच से भी उसे देखना सम्भव नहीं है। मगर एक्स-रे काच उसे दिखा देता है। उसी के आधार पर डाक्टर चिकित्सा करता है।

इसी प्रकार व्यवहारनय बाहर के पदार्थों को दिखलाने वाला काच है और रोज व्यवहार में आता है। और जो वस्तु के आन्तरिक स्वरूप का, शुद्ध रूप

का निर्णय करता है, वह निश्चयनय है। उसमें लेकिन-वेकिन की जरूरत नहीं और तर्क-वितर्क को स्थान नहीं। लेकिन हमें दोनों नयों की आवश्यकता है और अधिकतर हमारा काम व्यवहारनय से चलता है।

आप हमें 'तिएणाणं तारयाणं' कहते हैं और वंदना करते हैं। यह किस लिए? आप समझते हैं कि ये सदाचारी हैं, चारित्रनिष्ठ हैं और साधु का वेष धारण किये हैं। किन्तु हमारे अंतरंग का आपको क्या पता है? आप नहीं जानते कि हमारे अन्दर कैसे भाव भरे पड़े हैं। इसी प्रकार हम व्यवहार से आप को श्रावक कहते हैं। तो व्यवहार को यदि छोड़ देते हैं तो हमारा काम चलने वाला नहीं है। हमारा अधिकांश काम व्यवहारनय से ही चलता है। किन्तु जब हमें गहराई में जाना होता है, और सही रूप से वस्तु स्थिति को समझना होता है, वहां व्यवहारनय से काम नहीं चलता। वहां तो एक्स-रे से ही काम चलेगा। मगर वह यों ही नहीं मिल जाता। वहां तो एक समय के सोलह रुपये रखने पड़ेंगे। साधारण कांच को कोई भी उठा सकता है और कोई भी मुंह देख सकता है और नाई की पेटी में भी वह मिल सकता है, किन्तु एक्स-रे में हरेक मुंह नहीं देख सकता। उसमें तो वही देख सकता है, जिसने फीस के सोलह रुपये जमा कराये हैं। इसी प्रकार जिसने विशेष रूप से क्षयोपशम किया है, और ज्ञान-दर्शन की उपलब्धि की है, उसी आत्मा को निश्चयनय की प्राप्ति होती है।

किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। साधारण कांच जब मैला हो जाता है तो उसे साफ करना पड़ता है। वह साफ हो तो काम देता है। उस पर धूल पड़ जाय तो काम नहीं देता—चेहरा धुंधला नजर आता है। अरे दुनिया के लोगों! अभी तक हमारा व्यवहार रूपी शीशा भी शुद्ध—साफ नहीं है तो निश्चय तो दूर की बात है। इसलिए निश्चय को दृष्टि में रख कर पहले व्यवहार को साफ कर लो। अभी तो तुम्हारा व्यवहार भी साफ नहीं है। व्यापार-धन्धे में 'ब्लेक' करना—चोरी करना, अपने मित्र के प्रति विश्वास-

घात करना, माल दूसरा दिखलाना और दूसरा दे देना, इसी प्रकार के दूसरे-दूसरे कारनामे करना व्यवहार की शुद्धता नहीं है। जहा इस प्रकार की अनैतिकता और अप्रामाणिकता है, वहा व्यवहार में सफाई कहा है?

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि सभी ऐसे हैं। सब सरीखे नहीं होते और सब को सरीखा लोभ भी नहा होता। मगर किसी ने आवाज दी—'ओ लाठी वाले!' तो पीछे मुडकर वह देखेगा, जिसके पास लाठी होगी। तो जो लाठी वाले हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह उक्ति हम पर लागू होती है। जिनका जीवन प्रामाणिक है, जिनका व्यवहार नैतिकता से परिपूर्ण है, उन पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता।

आशय यह है कि हमारा व्यवहार शुद्ध होना चाहिए। श्रावक के २१ गुण बतलाये गये हैं। उनमें एक गुण यह भी है कि उसका व्यवहार प्रामाणिक हो। उसका जीवन प्रतिष्ठा पूर्ण और आदर्श होना चाहिए। मिथ्यात्व की बातों से बचना, कुदेव कुगुरु और कुधर्म के श्रद्धान से बचना भी व्यवहार है। जब तुम खुले आम मिथ्यात्व का सेवन कर रहे हो तुम्हारा धार्मिक व्यवहार कहा शुद्ध रहा? जिसका व्यवहार शुद्ध होगा, वही निश्चय स्वरूप को प्राप्त कर सकेगा? क्योंकि व्यवहार से निश्चय है, निश्चय से व्यवहार नहीं है। श्रावक के विषय में कहा गया है कि वह अप्रतीतिजनक घर में प्रवेश न करे, जहा खड़ा होने से हानि हो, वहा खड़ा न रहे। जहा जाने से, उठने-बैठने से, बोलने-चालने से व्यवहार में फर्क आता हो, उस जगह से दूर ही रहे। अर्थात् जहाँ अडे खाये जाते हों, मास खाया जाता हो, ब्राडी का पान किया जाता हो, उन होटलों में जाकर चाय पीएगा तो व्यवहार शुद्ध नहीं रह सकेगा, क्योंकि वहा तो सब गपड़-सपड़ मामला है। वहा जाने से आज नहीं तो कल और कल नहीं तो कभी न कभी तुम्हें भी वह दुर्व्यसन लग जायगा।

सज्जनो! आज कल खान-पान के विषय में बहुत अव्यवस्था फैली हुई है। बाजार में बिकने वाली बिस्कुट और डबलरोटी आदि को स्वादिष्ट बनाने

के लिए अडों का रस मिलाया जाता है। यही कारण है कि हम साधुजन उन बाजारू वस्तुओं का उपयोग नहीं करते।

जालधर (पजाब) में एक क्षत्रिय की बिस्कुट की दुकान थी। मैं ने वहा वेजीटेरियन सोसाइटी कायम की थी। मासाहार के विरोध में प्रचार करना उसका ध्येय रक्खा गया था। जालधर में मेरे व्याख्यान प्राय खुले मैदान में होते थे, ताकि निस्सकोच और निश्शंक भाव से सभी लोग शामिल हो सकें। उस क्षत्रिय दुकानदार ने भी व्याख्यान सुना और वह सोसाइटी का मेम्बर बन गया। उसने कहा—मैं तो अडे और मास खाना छोड़ दू गा, किन्तु मेरी दुकान बिस्कुट की है। उसके लिए मनों अडे काम में आते हैं। मैं तो उसे भी बन्द कर देना पसद करू गा, मगर कह नहीं सकता कि लड़के मानेंगे या नहीं मानेंगे! अतएव दुकान में काम में लाने का मैं तब तक त्याग नहीं कर सकता, जब तक मेरे लड़के भी इस सोसाइटी के सदस्य न बन जाए।

आशय यह है कि आज बाजार की चीज खाना भी अधर्म है। अनारकली लाहौर की बात है। एक चने की चाट बेचने वाला आया। वहा एक दिगम्बर भाई था। वह और तो बाजार की चीज नहीं लेता था, मगर चने की चाट शुद्ध समझ कर ले लेता था, उसने चाट ली और कहा—बहुत स्वादिष्ट है, जायकेदार है। चाट बेचने वाले को पता नहीं था कि यह जैन है या किसी दूसरे धर्म को मानने वाला है। अतएव उसने कहा—अजी, जायकेदार क्यों न हो! मैं प्रतिदिन इतने अंडों का रस जो डालता हूँ।

चाट वाले ने तो सहज भाव से कह दिया, किन्तु वे दिगम्बर भाई, जो उसके जायके की तारीफ कर रहे थे, बड़े पछताए। मगर 'अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।'

सज्जनो! दुनिया में आज यह दशा हो रही है। अतएव अपने को बहुत सभाल कर रक्खो। अधिकाश लोगों को आज घर की चीजें पसंद नहीं

आतीं। ये इधर-उधर की बाजारू चीजें खाते फिरते हैं। मगर यह सब पतन की ओर जाने के लक्षण हैं। इनसे व्यवहार बिगड़ता है।

माताओ और बहिनों! इसीलिए मैं कहता हू कि व्यवहार शुद्ध होना चाहिये। कम से कम आपको ऐसा व्यवहार तो नहीं ही करना चाहिए, जिससे लोकनिन्दा हो और अपना जीवन बर्बाद हो। जो जैन भाई निन्दनीय व्यवहार करते हैं, उनके विषय में लोगों के खुले शब्द होते हैं—'देखो, देखो, ये साधुओं के पास जाकर तो मुह बाधते हैं और यहा ऐसे काम करते हैं।' अतएव आपको ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे तुम्हारी और तुम्हारे गुरु की निन्दा हो। आपको ऐसे अद्वितीय परमपावन वीतरागधर्म की प्राप्ति हुई है, अत. आपका जीवन तो ऐसा आदर्श होना चाहिए कि दूसरे लोग उसे देखकर कुछ अच्छाई सीख सकें और और आपके आचरण से आपके धर्म की महत्ता का अनुमान कर सकें।

साधारण जनता किसी धर्म के दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्तों के मर्म तक नहीं पहुंचती। वह तो उस धर्म के अनुयायियों के जीवन व्यवहार को देखकर ही उस धर्म के विषय में अपना अभिप्राय बनाती है। अगर आप का व्यवहार अच्छा है तो आपके धर्म के विषय में भी लोगों की धारणा अच्छी बनेगी। अगर ऐसा न हुआ तो हमारे सैकड़ों व्याख्यान भी निष्फल सिद्ध होंगे आपका व्यवहार ही लोगों को धर्म के विषय में अनास्था उत्पन्न करेगा।

सज्जनो! अगर आप सद्व्यवहार करते हैं और लोकनिन्दनीय बातों से दूर रहते हैं, तो अपने जीवन को तो उच्च और पवित्र बनाते ही हैं, साथ ही अपने धर्म की भी महान् सेवा करते हैं। अतएव अपना व्यवहार अच्छा बनाओ। व्यवहार से अच्छा काम करोगे तो निश्चय में भी अच्छे बन जाओगे। सोना असली है तो आभूषण भी अच्छे बनेंगे। सोना खोटा है तो आभूषण असली कहा से बन जाएगे? बीज मीठा होगा तो वृक्ष के फल भी मीठे लगेंगे। बीज कड़ुवा होगा तो फल भी कटुक ही आएँगे। इसलिए मैं कहता

हूँ कि अपने व्यवहार को शुद्ध बनाओ। निश्चयनय बहुत गहराई में बोलता है और वस्तु के वास्तविक एव परनिरपेक्ष स्वरूप का प्ररूपण करता है। व्यवहारनय स्थूल और परसापेक्ष स्वरूप का प्रतिपादन करता है। निश्चयनय से आत्मा अमर है—उसकी मृत्यु नहीं होती। किसी वस्तु का अस्तित्व मिट जाना ही मृत्यु है, किन्तु आत्मभाव से आत्मा अमर है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता और न शून्य रूप में ही परिणत होता है। वह सदैव आत्मा ही रहता है। अतएव अजर, अमर और अविनाशी है। शरीर बदलता है, इन्द्रियों में परिवर्तन होता है, पर्याय भी पलटता है, पर आत्मद्रव्य सदैव ज्यों का त्यों अवस्थित रहता है। लाख प्रयत्न करने पर भी आत्मा के असख्यात प्रदेशों में से एक भी प्रदेश कम नहीं किया जा सकता। अतएव निश्चयनय का कथन है कि आत्मा की कदापि मृत्यु नहीं हो सकती।

यह प० विचारनिय है मगर नय मात्र एकान्त रूप हैं और कोई भी एकान्त सम्यक् नहीं होता। अतएव हमारा व्यवहार किसी एक नय के अधीन नहीं चल सकता। निश्चयनय के दृष्टिकोण को समझना चाहिए और व्यवहारनय के अनुसार पवित्र व्यवहार करना चाहिए। दोनों में से किसी भी एक नय का परित्याग नहीं किया जा सकता।

मान लीजिए कि आपने व्यवहारनय को असद्भूत पदार्थ की प्ररूपणा करने वाला समझ कर त्याग दिया और एकान्त निश्चयनय का अवलम्बन किया। निश्चयनय से आत्मा को भूख नहीं लगती तो किसी भूखे को भोजन देने की आवश्यकता नहीं, आपको भी खाने की आवश्यकता नहीं। और जब ऐसा मान लेंगे तो हिंसा-अहिंसा का भी प्रश्न नहीं रहता। दया और दान की बात भी समाप्त हो जाती है। न कोई मरा, न किसी ने मारा और न किसी को पाप लगा। जब आत्मा मरता नहीं तो पाप-पुण्य के अनुसार दुर्गति और सुगति मिलने की बात भी हवा में उड़ जाती है। मगर ऐसा मान लिया जाय तो जुल्म हो जायगा। सौराष्ट्र में सोनगढ के कानजी स्वामी हैं, वे निश्चयनय को ही पकड़ कर बैठ गये हैं।

सज्जनो । देखने के लिए आखें दो मिली हैं। यदि कोई एक आख पर पट्टी वाध ले और सिर्फ एक ही आख से देखे तो क्या उचित है ? दो आखें मिली हैं तो दोनों से देखना चाहिए। पर उन्होंने मान लिया कि तप ब्रह्मचर्य और दूसरी क्रियाएं करने की आवश्यकता नहीं है। उनका उपदेश यही है कि तपस्या करना, सामायिक करना आदि सब जड़ क्रियाए हैं, अत जीवन में उनकी कोई आवश्यकता नहीं है। केवल आत्मा को 'ओलखो' (पहचानो)।

मगर आत्मा की पहचान कब होगी ? काच साफ होगा तभी तो चेहरा दिखेगा और यदि काच ही मैला होगा तो क्या दिखाई देगा ? आत्मा रूपी काच की सफाई तो तपस्या से ही होगी। ज्यों-ज्यों आत्मा क्रियानुष्ठान द्वारा साफ होता जायगा त्यों-त्यों आत्मबोध भी बढता जायगा। जब तक आत्मा पर आवरण हैं, तब तक आत्मा की पहिचान नहीं हो सकती।

तो यह समझना किस के लिए है ? श्रद्धाशील के लिए ही समझना है। जिनका व्यवहार ही शुद्ध नहीं है, वे नहीं समझ सकते।

तो मैं कह रहा था कि वक्ता दीर्घ दृष्टि वाला हो और उसे व्यवहारनय और निश्चयनय-दोनों की जानकारी होनी चाहिए। कहा है—

जन्म दु ख, जरा दु ख, मृत्युदु'ख पुन' पुन ।

यह किसकी घोषणा है ? किसकी प्रतिध्वनि है ? श्रमण भगवान् महावीर घोषणा करते हैं कि—हे प्राणियो। तुम्हारे पीछे जन्म लेने का दु ख भी लगा हुआ है, बुढापे का भी दु ख लगा है और मृत्यु का महादु ख भी लगा है।

सज्जनो। बुढापा भी बड़ा भारी दु ख है आप में से जिन जिन को बुढापा आ गया है, वही जान सकते हैं कि बुढ़ापा कितनी बड़ी मुसीबत है। जिसका पेट भरा हुआ है, वह भोजन की कीमत क्या जाने ? पानी की कद्र प्यासा ही करता है और औषध की कद्र रोगी करता है। वृद्ध पुरुष उठते-बैठते भी टसकता है। उससे कोई चीज खाई नहीं जाती। खा

लेता है तो पचा नहीं सकता। उसे कानों से सुनाई नहीं देता। आखों से दिखाई नहीं देता। अभिप्राय यह है कि उसकी समस्त इन्द्रिया शिथिल पड़ जाती हैं। यद्यपि प्राय वृद्धों की लालसा भी वृद्ध हो जाती अर्थात् बढ जाती है, अतएव उसका मन भाति-भाति की सरस वस्तुए खाने का होता है, किन्तु कर्मचन्द जी के उदय से अनुकूल पदार्थ मिलते नहीं और यदि मिल जाए तो वह उन्हें खा नहीं सकता, क्योंकि उसकी जठराग्नि मन्द हो जाती है।

बुड्ढा अपनी कमर पकड़ कर बड़ी मुश्किल से उठता है और खास-कर गिर जाता है। वह थूक-थूक कर मकान की दीवारें खराब कर देता है। यह हाल देखकर बहूरानी जी कहती हैं—आप दुकान पर जाओ। घूघट निकालते-निकालते मेरा तो नाक में दम आ गया। तब सेठ जी लकड़ी टेक-टेक कर, ठुम्मक-ठुम्मक करते हुए दुकान पर पधारते हैं। वहा पर भी वे थूक-थूक कर दुकान खराब कर देते हैं। तब उनका जेंटिलमेंन लड़का कहता है—बापू! आप घर जाकर आराम करो।

बेचारा बूढा न दीन का रहा न दुनिया का रहा। बहू और बेटे के इशारे पर बन्दर बन कर नाचता फिरता है। तब उसे खयाल आता है—अपनी जवानी में मेरा क्या हाल था।

जब मैं यौवन में था तो सब मेरे पीछे-पीछे फिरते थे, किन्तु हाय। आज घर में घुसता हू तो बहूरानी फटकारती हैं और दुकान पर जाता हूं तो सपूत बेटा मुस्कराता है। मगर सज्जनो। सुपुत्रों की भी नास्ति नहीं है। कई मा के लाडले सपूत ऐसे भी हैं जो माता-पिता के थूक को हथेली पर झेलने को तैयार रहते हैं। मगर आज ऐसे भाग्यवान् सपूत विरले ही मिलेंगे।

किन्तु सज्जनो। यह समझना और समझाना भी समझदारों के लिए ही है। मूर्खों को समझाना कठिन होता है।

एक पण्डितजी किसी दूसरे गॉव जा रहे थे। रास्ते में रात्रि का समय हो जाने से किसी गॉव में एक जमींदार के घर चले गये। ज़मींदार ने ब्राह्मण

पण्डित समझ कर अपने यहाँ ठहरा लिया । पण्डितजी ब्राह्म मुहूर्त्त में जाग उठे और नित्य कर्म से निवृत्त हो कर वेद-मन्त्रों का उच्चारण करने लगे। यद्यपि वे धीमे स्वर में ही मंत्रों का उच्चारण कर रहे थे, फिर भी उस जमींदार जाट की आँख खुल गई। आँख खुलने की देर थी कि उसने पंडितजी से पूछा—'यह क्या कर रहें आप ?'

पण्डितजी बोले—वेद-मंत्र पढ़ रहा हूँ।

पण्डितजी के आने से कुछ समय पहले गाँव के पशुओं में महामारी फैली थी। वायु का गोला पेट में हुआ नहीं कि पशु मरे नहीं। और ज़मींदार का तो यही धन होता है। उस समय एक ग्रामीण वैद्य ने बतलाया—जो पशु बीमार हो जाय और अर्राटे भरने लगे, उसे लोहे की शलाका लेकर और उसे आग में तपा कर लाल करके पशु के गले मे डाम लगा देना चाहिए। लोगों ने ऐसा ही किया तो पशुओं ने चिल्लाना बद कर दिया और भाग्यवशात् बीमारी भी जाती रही।

सज्जनो ! जब उस जाट ने पण्डितजी को नगे बदन चिल्लाते सुना तो उसे वही नुस्खा याद आ गया। उसने सोचा—पण्डितजी को भी वही बीमारी हो गई है और इसी कारण यह चिल्ला रहे हैं और चुप नहीं होते हैं। उसने अड़ौस-पड़ौस के कुछ जाटों को इकट्ठा करके वह दृश्य दिखा दिया। कहा—पण्डितजी का जल्दी इलाज हो जाना चाहिए, नहीं तो गज़ब हो जायगा और हमें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। एक जाट को लोहे की दो शलाकाए गरम करने का काम सौंपा गया। जब शलाकाए गरम हो गई तो उस जमींदार ने कहा—पण्डितजी, होशियार हो जाओ। आपके वायु गोले का अभी इलाज हुआ जाता है।

पण्डितजी लोहे की लाल-लाल शलाकाएँ देखकर घबराये और बोले—भाइयो ! यह क्या कर रहे हो ?

पण्डितजी की वात सुनकर जाटों ने समझा—बीमारी जोरों पर है, इलाज जल्दी होना चाहिए। उसने कहा—घबराओ मत। बीमारी मिटते ही आपको पता चल जायगा कि यह इलाज कितना उत्तम है।

पण्डितजी कॉपते हुए बोले—मुझे कोई बीमारी नहीं है। इलाज किसका कर रहे हो?

जाट ने कहा—वाह। बीमारी कैसे नहीं है। तीन-चार घटे से चिल्ला जो रहे हो।

पण्डितजी—भाइयो! मैं तो वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहा हूँ।

जाट ने कहा हाँ हाँ, बस यही तो रोग हमारे गाँव के पशुओं में भी था। पण्डितजी, हम आपको अपने सामने मरता नहीं देख सकते। आपका इलाज अवश्य करेंगे।

इसके वाद उस जमींदार ने दूसरे अपने साथियों से कहा—क्यों जी। कितनी खतरनाक बीमारी है, यह चिल्लाने की।

सब साथ बोले— इसमें क्या शक है। इसका इलाज करने में विलम्ब होना ही नहीं चाहिए।

अब उस जमींदार ने उन धधकती हुई शलाकाओं को हाथ में लिया और पण्डितजी को पकड़ कर गले में डाभ लगा दिया। पण्डितजी उछल-कूद मचाने लगे। मन-ही-मन पछताने लगे – हाय, हाय! मैं कहाँ आ फँसा। उन्होंने अपने माथे पे हाथ मारा और अपना कर्म ठोका कि मेरा भाग्य फूट गया कि जो मैं यहाँ आया।

जमींदार ने कहा—देखो, देखो, रोग ऊपर चढा जा रहा है और मस्तक तक पहुँच रहा है। तभी तो पण्डितजी ललाट पर हाथ मार रहे हैं। यह कह कर उसने उनके ललाट पर भी लाल शलाकाएँ चिपका दी।

पण्डितजी वेदना के मारे आकुल-व्याकुल हो गये, परन्तु मौन वृत्ति से उस वेदना को सहन करते रहे। अब वह समझ गये थे कि मैंने खाज

खुजाने के लिए भी यदि किसी जगह हाथ लगाया तो यह मूर्खराज वहीं सलाई चेप देगा! अतएव वह एकदम शान्त हो गये। जब वह शान्त हो गये तो जाटों को विश्वास हो गया कि इनकी बीमारी चली गई है।

जमींदार बहुत खुश हुए कि आज हम ने एक ब्राह्मण पण्डित के प्राणों की रक्षा कर ली।

सज्जनो। वे बुद्धू जाट तो नहीं समझे, पर पण्डितजी को समझना पड़ा। वे वहाँ से ऐसे भागे जैसे पिंजरे में से निकल कर कोई पक्षी भागता है।

पण्डितजी की भावना अच्छी थी और वे वेदमंत्रों का पाठ कर रहे थे, परन्तु वेद के श्रोता एसे मिले कि उन्होंने मरम्मत ही कर डाली और वेदमत्रों के उच्चारण को पशुओं की बीमारी समझ लिया।

तो वस्तु का ठीक ज्ञान न होना भी एक प्रकार का दु ख ही है जिसे लौकिक ज्ञान भी नहीं है, वह निश्चय और व्यवहार नयको किस प्रकार समझ सकता है? और निश्चय व्यवहार को सही रूप में समझे बिना वीतरागवाणी की समीचीन प्ररूपणा कैसे की जा सकती है?

अभी बतलाया गया था कि निश्चय दृष्टि से आत्मा मरने वाला नहीं है, किन्तु व्यवहारदृष्टि से आत्मा का जन्म भी होता है, मरण भी होता है, बुढापा भी आता है। जब तक कर्मों का सम्बन्ध है, तब तक आत्मा जन्म-मरण से बच नहीं सकता।

अहो दु खम्। हम संसार में जहाँ कहीं भी दृष्टिपात करते हैं, सर्वत्र दुःख की सघन घटाएँ घुमड़ती दिखाई देती हैं। जिधर कान लगाओ, हाहाकार और चीत्कार ही कर्णगोचर होता है। यह दु खमय पचम आरा है इसमें दु ख भरे पड़े हैं, किन्तु इसके पश्चात् तो दु खमादुःखम आरा आने वाला है। तब क्या होगा।

इस प्रकार विचार कर मनुष्य को सावचेत होना चाहिए और एकान्तदृष्टि का परित्याग करके अनेकान्तमयी दृष्टि का अवलम्बन करके, निश्चय-व्यवहार

का समन्वय करते हुए मोक्ष मार्ग में अग्रसर होना चाहिए। इसी दृष्टि से वक्ता को उपदेश देना चाहिए और श्रोताओं को सुनना चाहिए। इसी प्रकार का उपदेश सम्यक्त्व का जनक होता है। ऐसे उपदेशक और श्रोता—दोनों कर्मनिर्जरा करके ससार-सागर से पार होते हैं।

ब्यावर
१५-८-५६ }

८

उपदेशरुचि सम्यक्त्व-वक्ता के गुण

वीर सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिता
वीरेणाभिहत स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचय हे वीर! भद्र दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायका।
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

शास्त्रों में कहा गया है कि जीवात्मा को दस प्रकार से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है। उन दस कारणों में से एक है, शास्त्रश्रवण, और धर्मोपदेश का पठन पाठन और मनन। जो मनुष्य आतप से पीड़ित है, पिपासा से व्याकुल है, वह जब तक जलाशय के पास तक नहीं पहुँच जाता, तब तक उसकी संतप्तता और तृषा नहीं बुझ सकेगी। उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी। गर्मी से आतप्त प्राणी यदि मरूभूमि में रेत के टीले के पास पहुँच जाता है तो उसे शीतलता के ... पर और अधिक गर्मी तथा व्याकुलता ही प्राप्त होगी। इसी प्रकार

मिथ्यात्व रूपी अग्नि से संदग्ध प्राणी यदि भगवान् की वाणी रूपी शीतल सरोवर में पहुँच जाता है, तो उसे ज्ञान मिलेगा और सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी। इसी कारण से शास्त्र-श्रवण को सम्यक्त्व की प्राप्ति का एक कारण बताया गया है। इससे प्रत्येक वस्तु का सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है।

शास्त्रों में पाँच प्रकार के ज्ञान बताए गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान। केवल ज्ञान का साध्य दृष्टि से तो सबसे ऊँचा स्थान है,किन्तु साधक दृष्टि से ऊँचा स्थान श्रुतज्ञान को दिया गया है? एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में अभ्यास कर रहा है और दूसरा शास्त्री, आचार्य आदि उच्च कक्षाओं का विद्यार्थी है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि शास्त्री, आचार्य आदि का अध्ययन ऊँचा होता है, किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उच्च अभ्यास का मूल कारण प्रथम श्रेणी की शिक्षा ही होती है। एक विद्यार्थी अगर प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त न करे तो वह ऊँचा अभ्यास प्राप्त करने की योग्यता कैसे प्राप्त कर सकता है? हमारे आध्यात्मिक जीवन को विकसित करने के लिए ज्ञान-प्राप्ति का जो क्रम है, उसके अनुसार श्रुतज्ञान और मतिज्ञान प्रारम्भिक अवस्थाओं में आते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों साथ-साथ ही रहते हैं। "जत्थ मइनाण तत्थ सुयनाणं"—शास्त्र का कथन है कि जहाँ मतिज्ञान होता है वहाँ श्रुतज्ञान भी अवश्य ही होता है। यह राम और लक्ष्मण, कृष्ण और बलभद्र की तरह निरन्तर साथ रहने वाली युगल-जोड़ी है। एक के अभाव में दूसरा ज्ञान होना सर्वथा असभव है।

भगवती सूत्र में भगवान् से प्रश्न किया गया है—हे भगवन्, जीव ज्ञानी है अथवा अज्ञानी? भगवान् ने इसका उत्तर दिया है—शिष्य। जीव ज्ञानी भी है और अज्ञानो भी है। जिसे सम्यग्ज्ञान है शुद्ध बोध है, सच्ची जानकारी है और जिसको तत्व के सम्बन्ध में गहन अध्ययन है, वह ज्ञानी कहलाता है। सम्यग्दृष्टि वाला जोव ज्ञानी कहलाता है, क्योंकि उसके अभाव में ज्ञान टिक नहीं सकता है। जिसकी दृष्टि मिथ्या है जिसकी मति उचित दिशा की ओर

लक्ष्य न करती हो, वह चाहे कितना ही अध्ययन शील हो, कितने ही ग्रथों का उसने अवलोकन किया हो, पडित, आचार्य विद्वान्, शास्त्री, चाहे सब कुछ ही क्यों न बन गया हो किन्तु सम्यग्दृष्टि के बिना उसका सारा ज्ञान मिथ्या ही होता है। अन्य शब्दो में वह पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी और अज्ञानी ही है। जिसकी मान्यता शुद्ध हो, जो वस्तु को उसी रूप में ओर उसी अर्थ में देख और समझ सकता हो, वही ज्ञानी और सम्यक्त्वी होता है।

यहा प्रश्न किया जा सकता है कि ज्ञानी जीव को कितने ज्ञान हो सकते हैं? इसके उत्तर में यह कहा जाएगा कि सभी को ज्ञान बराबर नहीं होता। कई श्रेणिया उसमें होती है। जो ज्ञानी होते हैं उनके ज्ञान की भी अलग-अलग प्रकार की सीमाए होती हैं। जीव जीवन में ज्ञानावरणीय कर्म का जितना जितना क्षयोपशम करता जाता है उतनी ही ज्ञान की प्राप्ति उसे होती रहती है। जिस प्रकार बाजार में हम जितना जितना धन देते जाते हैं, उतना उतना माल भी हमें मिलता जाता है उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होता है। पर इस बात का हमें स्मरण रखना होगा कि अन्य वस्तुओं की तरह ज्ञान, धन से प्राप्त की जाने वाली वस्तु नहीं है। ज्ञान आत्मा का निजी गुण है। ज्ञान से ही आत्मा का अस्तित्व है। अन्य शब्दों मे कहा जा सकता हैं कि आत्मा ज्ञानमय ही है। किन्तु ज्ञानी सभी एक सदृश नहीं होते। हजार रुपए वाला व्यक्ति भी धनी कहा जाता है लाख रुपए वाला भी और करोड़ रुपए वाला भी। धनी तो सब हैं पर सीमा का भेद उनमें रहा हुआ है। सभी एक सदृश नहीं हैं। इसी तरह जीव ने जितना जितना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया, उतना उतना ज्ञान उसे प्राप्त होता गया। श्रीमद भगवती सूत्र में बताया गया है कि पाचों ज्ञानों की अनन्त अनन्त पर्यायें है। किसी ज्ञान की भी सख्यात या असंख्यात पर्यायें नही हैं।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि जब सभी ज्ञान की अनन्त-अनन्त पर्यायें हैं तो मति श्रुत केवल आदि ज्ञानों में अन्तर क्या हुआ? सज्जनो! ध्यान दीजिए?

सभी ज्ञानों की अनन्त पर्यायें हैं, किन्तु उनमें भी बहुत बड़ा अन्तर है। जैसे एक हजार भी हजार है। ६६६६६ भी हजार है और ६६६६ भी हजार है। किन्तु हजार की संख्याओं में भी कितना अन्तर रहा हुआ है ? 'हजार' शब्द से क्या तात्पर्य लिया जा सकता है ? एक हजार से लेकर ६६६६६ तक के अक उसमें आ जाते हैं। एक ही शब्द के तात्पर्य में बहुत भिन्नता आ जाती है। अगर किसी को कहा जाय कि अमुक व्यक्ति के पास हजारों का माल है। इसका क्या अर्थ समझा जाएगा ? सभव है उसके पास दो हजार का धन हो। यह भी सभव है कि उसके पास साठ सत्तर या अस्सी हजार का धन है। बन्धुओ ! इसी प्रकार ज्ञानों की अनन्त पर्यायों में भी भिन्नता रहा करती है। अनन्त शब्द सब ज्ञान की पर्यायों पर लागू हो जाता है। मति श्रुत अवधि, मन पर्यव और केवल सभी ज्ञानों की अनन्त अनन्त पर्यायें हैं और उन्हीं में उपरोक्त प्रकार से भेद समझ लेना चाहिए। मति ज्ञान वालों की भी अनन्त पर्यायें हैं किन्तु वे सामान्य हैं। आठ बोल अनन्तों के हैं अर्थात् आठ वस्तुए संसार में अनन्त हैं जिनमें सर्वोपरि बोल केवल ज्ञान की पर्याय का है। इससे बढ कर और किसी की भी पर्यायें अधिक नहीं है।

अत ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि जितना जितना जीव क्षयोपशम करता है, उसे उतना उतना ही ज्ञान प्राप्त होता जाता है। वसुन्धरा मे जल का अनन्त भडार भरा हुआ है। जितना जितना ही परिश्रम पूर्वक हम खोदते जाएगे उतना उतना ही अधिक जल हमें प्राप्त होता रहेगा। इसी प्रकार जिस ने जितनी अधिक साधना की, तपस्या की, आत्मा को पवित्र किया उतना ही उसे ज्ञान प्राप्त होता गया। जो ज्ञानी जीव होते हैं उनमें कोई तो मति श्रुत दो ज्ञान वाले होते हैं। और कोई कोई तीन ज्ञान मति श्रुत और अवधि ज्ञान वाले होते हैं। अवधि ज्ञान के बिना भी मन पर्यवज्ञान हो सकता है। मन पर्यव-ज्ञान केवल साधु को ही हो सकता है गृहस्थ को नहीं। मन पर्यवज्ञान वाला जीव सभी के मन की बात जान लेता है। इसके दो भेद होते हैं—ऋजुमति मन पर्यवज्ञान और विपुल मति मन पर्यवज्ञान। कहने का

तात्पर्य यह है कि ऋजुमति वाले से विपुल मति वाले का ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। उसका ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल और भाव सभी दृष्टियों से ऊचा है। अगर किसी व्यक्ति ने मन में घट का संकल्प किया तो ऋजुमति ज्ञान वाला उसके मन की वात जान लेगा। उसे मालूम हो जाएगा कि अमुक व्यक्ति के मन में घट का सकल्प है। पर वह सिर्फ इतना ही समझ सकता है। किन्तु विपुल मति ज्ञान वाला उस व्यक्ति के संकल्प को समझने जानने के साथ साथ घड़े को भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से समझता है। द्रव्य से उसे मालूम होगा कि घड़ा मिट्टी का है अथवा सोने का? क्षेत्र से वह जानने में समर्थ होगा कि वह घट कौन से स्थान पर कहा स्थित है? काल से उसे मालूम पड़ जाएगा कि वह कौन से मास में कौन सी ऋतु में बना है? अलग अलग समय में उसमें क्या परिवर्तन हुआ है, आदि आदि। भाव से वह जान लेगा कि वह किन किन पदार्थों द्वारा निर्मित है—वह घट खाली है अथवा भरा हुआ? अगर भरा हुआ है तो किस पदार्थ से इत्यादि इतनी सभी बातें विपुल मति ज्ञान वाला जान लेता है।

मैं कह रहा था कि दो या तीन ज्ञान भी जीव को हो सकते हैं,मति,श्रुत,अवधि और मन पर्यवज्ञान ये चार भी। कदाचित एक ही ज्ञान जीव को हो तो वह केवल ज्ञान ही होता है। सज्जनो! एकाकी रहने वाले में बलशक्ति और उत्साह शक्ति भी अधिक होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अकेला रह कर निर्वाह नहीं कर सकता। चारों ज्ञान ही अकेले केवल ज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं। जब सूर्य का प्राची में उदय होता है तो ग्रह नक्षत्र, चॉद और तारागणों का प्रकाश सूर्य के प्रकाश में ही विलीन हो जाता है। उसका प्रकाश सर्वोपरि और सर्वाधिक तेजस्वी होता है। इसी प्रकार भद्र पुरुषो, मैं कहने जा रहा था कि सम्यक्त्व दस प्रकार से प्राप्त होता है—उनमें एक कारण उपदेश-श्रवण भी है। जब आप मीठा मिश्रित दूध पीते हैं तो दूध के साथ मीठा स्वयं ही आ जाता है। दूध से मीठा भिन्न नहीं होता और इसीलिए हम दोनों का आनन्द साथ साथ ही ले लेते हैं। इसी प्रकार जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है; तब ज्ञान भी

प्राप्त हो जाता है। मैंने कहा था कि श्रुत ज्ञान का स्थान ऊंचा है और केवल ज्ञान का स्थान तो सर्व श्रेष्ठ है ही। कार्य दृष्टि से तो केवल ज्ञान महत्वपूर्ण है और कारण दृष्टि से श्रुत ज्ञान। जिन्होने शास्त्र, उपदेश और सच्ची वाणी श्रवण की उन्हें मति अवधि और मन पर्यवज्ञान की और अन्त में केवल ज्ञान की भी प्राप्ति हो जाती है। अत' सुनने से बहुत लाभ होता है। कई मनुष्य जिन्हें सुनने का भाव नहीं होता, कई तरह की बहाने वाजी करते हैं, कितने ही प्रकार के तर्क करते हैं। कहते हैं—भाई! क्या सुनें? जो लोग प्रतिदिन सुनते हैं वही क्या कर लेते हैं? वे लोग सुनकर भी तो कोई अत्यन्त महान् कार्य नहीं कर पाते हैं। बन्धुवर। अगर वे उपदेश श्रवण कर भी कोई महान् कार्य नहीं कर पाते तो इस में वाणी, शास्त्र या उपदेश का दोष नहीं। न सुनाने वाले की कमजोरी है। अगर वे कोई कार्य नहीं कर सके तो तुम उन्हें कोई बड़ा कार्य करके बतादो। तुम अपने आदर्शमय जीवन का प्रतिबिम्ब उन पर डाल दो। उन्हें अपने व्यक्तित्व और गुणों द्वारा कुछ शिक्षा दो वे स्वयं तुम्हारी सराहना करने लगेंगे। उन्हें स्वयं लज्जा का अनुभव होने लगेगा। वे आगे कार्य करने को उत्साहित होंगे। बन्धुओ! सुने हुए भाव को क्रियात्मक रूप से जीवन में उतारने में ही लाभ है। व्यर्थ में खाली सुनना और भूल जाना निष्फल ही होता है। कहावत है—"देने पडे दाम घटा बतावे सूत।" दाम देने की बहाने वाजी करना बहुत सरल है। जो शुभकार्य में बहानेवाजी करते हैं, समझना चाहिए उनके पाप का उदय है। उनके धर्म के उदय का समय अभी नहीं आया है। सज्जनो। श्रवण करना तो हर हालत में श्रेष्ठ है श्रवण करने से ही ज्ञान होता है और मन में कोई-न-कोई बात अपना स्थान बना लेती है और वह धीरे-धीरे कार्य करने को प्रेरित भी करती है। ज्ञान होने पर व्यक्ति थोड़ा बहुत कुछ-न-कुछ तो अवश्य करेगा। उसे पाप और पुण्य में भेद मालूम होगा और करणीय और अकरणीय कार्यों में भिन्नता प्रतीत होगी। अगर व्यक्ति सुनकर पूरी तरह आचरण में न लाए, फिर भी उसे कुछ-न-कुछ थोड़ा-बहुत लाभ तो हो ही जाएगा। जितने समय वह उपदेश

शास्त्र आदि श्रवण करने बैठेगा, कम-से-कम वह उतने समय पर-निंदा, चोरी, असत्य और माया से तो दूर ही रहेगा। यह लाभ तो कम से कम प्रत्यक्ष ही है। किसी से भी छिपा हुआ नहीं है। जो व्यक्ति कानों से कुछ सुनता है, उसके हृदय में उसकी कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया तो होती ही है। इसीलिए ज्ञानी महापुरुषों ने कहा है कि श्रुतज्ञान, मनुष्य के ज्ञान रूपी प्रासाद की नींव है। यहीं से जीवन का विकास प्रारंभ होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रवण करने वाले इस ओर लक्ष्य ही नहीं देते। उन्हें वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा और लालसा है ही नहीं। जो मनुष्य बुभुक्षा से बहुत अधिक पीड़ित है, उसे जब तक भोजन नहीं मिल जाएगा। तब तक संसार का कोई भी कार्य रुचिकर न होगा। उसका सारा ध्यान, समस्त इन्द्रियां, भोजन पर ही केन्द्रित हो जाएगीं। अगर इतनी तीव्र रुचि-जिज्ञासा भगवानकी वाणी में उत्पन्न हो जाय तो आत्मा का सभी दुःख समस्त सन्ताप ही समाप्त हो जाय। जिस व्यक्ति को मन्दाग्नि हो उसे भोजन अच्छा नहीं लगता, इसी प्रकार यदि ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो तो उसे ज्ञान प्राप्ति की रुचि नहीं होगी और ज्ञान प्राप्ति में कोई-न-कोई बाधा अवश्य होती ही रहेगी।

बन्धुओ। सुनाने वाले में भी योग्यता होनी चाहिए। व्यापार करने वाला व्यापार से अनभिज्ञ न होना चाहिए। उसमें लेन-देन, मूल्य के उतार-चढ़ाव और हिसाब किताब की पूरी योग्यता होनी चाहिए। जब भारतवर्ष हिन्दुस्तान और पाकिस्तान—दो भागों में बांटा गया, तब बहुत से हिन्दू हिन्दुस्तान में आए और बहुत से मुस्लिम पाकिस्तान चले गए। दोनों ने इधर-उधर विस्थापित होने पर भी व्यापार सभाल लिया। मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू अधिक कुशल व्यापारी होते हैं। दुर्भाग्य से एक तेली पूर्वी पाकिस्तान में चला गया। उसे वहां एक किराने की दूकान मिल गई। वह वहीं जा बैठा। पर वह तो तेल का काम करता था और उसे तेल, तिल, खल आदि के व्यापार का अच्छा अनुभव था। वह उनके मूल्य आदि से पूर्ण-रूप से परिचित था। अन्य किराने की वस्तुओं के व्यापार से वह बिल्कुल अनभिज्ञ

और अपरिचित था। वह इतना भी नहीं जानता था कि कौन सी वस्तु साधारण और कौन सी कीमती और श्रेष्ठ है? किस का मूल्य अधिक और कम हो सकता है। दूकान में छोटी इलायची और बड़ी इलायची भी थीं। मूल्यों का जानकार न होने से उसने छोटी इलायची का मूल्य कम कर दिया और बड़ी इलायची का अधिक। यद्यपि छोटी इलायची का मूल्य ज्यादा होना चाहिए था, पर वह तो इन चीजों से अपरिचित ही था। उसे सही ज्ञान कैसे होता? अनुभव होना भी तो बड़ी महत्व की वस्तु होती है। उसने तो छोटे और बड़े आकार के अनुसार मूल्य निर्धारित कर दिए। किन्तु वास्तविक मूल्याकन तो गुणों के अनुसार होना चाहिए। देखिए। हीरा सूक्ष्म होता है किन्तु वह अत्यन्त विशालकाय पर्वत को भी अपने मूल्य से अत्यन्त सरलता पूर्वक खरीद सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सफलता प्राप्त करने के लिए शिक्षण और अभ्यास का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। सज्जनो! इसी प्रकार धर्म के व्यापार के लिए भी, उचित शिक्षण, अनुभव, अभ्यास एव बुद्धिमत्ता का होना बहुत आवश्यक है। एक व्यक्ति पाकिस्तान में गया। वहा पर एक मकान में रहने की उसने व्यवस्था की। दैवयोग से उस कमरे मे बिजली का एक पखा लगा हुआ था। उसने पहिले कभी देखा नहीं था। उसने किसी तरह उसे चालू तो कर दिया किन्तु उसे बन्द करने की विधि किसी भी प्रकार मालूम न पड़ी। वह एक लकड़ी लेकर उससे पखे को बन्द करने लगा। किन्तु क्या इस प्रकार वह पखा बन्द हो सकता था? उसके लिए तो विद्युत के प्रवाह को अवरुद्ध करना आवश्यक था। कुछ और भी बुद्धिमानी के दृष्टान्त सुन लीजिए। पजाब में अहमद गढ मंडी है। वहा मै एक बार व्याख्यान दे रहा था। व्याख्यान के बीच में ही वहा रखी हुई घड़ी का अलार्म बोलने लगा। एक आदमी ने उसके "डायल" पर सामने हाथ रख दिया, जैसे किसी आदमी के मुख पर हाथ रख कर आवाज बन्द करते हैं। यह देख सब लोग हस पडे। इस तरह अज्ञान में रहकर तो किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। भगवान

ने फरमाया है—"पढमं नाणं तओ दया" प्रथम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करो, और बाद में क्रिया करके सफलता तक पहुंच जाओगे। बिना ज्ञान प्राप्त किए किसी कार्य को प्रारम करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। इसीलिए उपदेश और शास्त्र श्रवण को महत्व दिया गया है कि वस्तु का सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जाय और ज्ञान बाद में कार्यरूप में परिणत भी हो सके।

मैं यह बता चुका हूं कि भगवान की वाणी को संसार के समक्ष रखने वाले व्यक्ति में भी योग्यता होनी चाहिए। मैंने यह भी बताया था कि प्रभु की वाणी अनेक प्रकार से, अनेक दृष्टिकोणों से, वस्तु को प्रकाशित करती है। सही ज्ञान तभी प्राप्त किया जा सकता है, जबकि अध्ययन गंभीरता और विवेकपूर्वक हो। सिर्फ पुस्तकें याद कर लेना ही पर्याप्त ज्ञान प्राप्ति नहीं कहलाती। प्रत्येक वस्तु को उसी रूप में देखना, उसी रूप में समझना जैसी वास्तविक रूप में वह है और उपयुक्त शब्दों में विवेचना करने की शक्ति का होना ही ज्ञान कहलाता है। व्याख्यान देना, प्रवचन करना सरल नहीं है। शास्त्रीय भावों को शास्त्रीय दृष्टिकोण को, उनके वास्तविक स्वरूप में ससार के समक्ष रखना काफी कठिन होता है। प्रवचनकार को ध्यान रखना होता है कि वह पदार्थों का निरूपण और दिग्दर्शन करते समय भगवान के वचनों से बाहर तो नहीं चला जारहा है। कहीं मूल वस्तु का स्वरूप उसके शब्दों से भिन्न तो नहीं है। व्याख्याता वस्तु के स्वरूप को इच्छानुसार परिवर्तित नहीं कर सकता। ज्ञान की दिशा सही होनी चाहिए, देखने का दृष्टिकोण सत्य होना चाहिए। विमान-चालक को पहिले बहुत अधिक शिक्षण की आवश्यकता होती है। आकाश की शून्यता में विमान को गन्तव्य दिशा की ओर ले जाना सरल नहीं होता। आकाश में कोई राजमार्ग नहीं, कोई पथ प्रदर्शक नहीं, कोई संकेत भी नहीं होता, जिससे पथ जाना जा सके। आजकल तो अमावस्या के घनघोर अंधकार में भी विमान सुदूर अनन्त में बिना किसी कठिनाई के अत्यन्त सरलतापूर्वक एक मुक्त-पक्षी की भांति आनन्द से मौज से उड़ते रहते हैं। अपना मार्ग भी वे कभी नहीं भूलते। बन्धुओ! यह सब

गहन अध्ययन, कठिन परिश्रम और उचित शिक्षण द्वारा ही सभव होता है। अगर कोई चालक मदिरा आदि उत्तेजक पेय पी ले तो विमान की क्या स्थिति हो, निश्चित ही वह गलत दिशा की ओर चला जाएगा अथवा कोई अप्रत्याशित दुर्घटना से ग्रस्त हो जाएगा। इसीलिए कहा जाता है कि चिकित्सक, चालक और पथ-प्रदर्शक को बहुत ही सावधान रहना चाहिए। उनकी शारीरिक और मानसिक अवस्था अत्यन्त सन्तुलित होनी चाहिए। यदि चिकित्सक स्वय उन्मत्त है, उसे स्वयं की मानसिक स्थिति का ज्ञान नहीं है, तो वह दूसरों के रोगों का निदान कैसे कर सकेगा? उसे यह सही-सही निर्णय कैसे होगा कि अमुक व्यक्ति अमुक रोग से ही पीड़ित है। वह गलत औषधि भी दे सकता है। यदि न्यायाधीश भी इसी प्रकार मानसिक उत्तेजना की स्थिति में है तो वह न्याय कैसे कर सकेगा? सच्चा न्याय देना बहुत ही कठिन होता है। उसमें अत्यन्त तीक्ष्ण और विलक्षण बुद्धि की आवश्यकता होती है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि पथप्रदर्शक को अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। उपदेशक और प्रवचनकार को शिक्षा का प्रवाह अबाध और स्वच्छद नहीं छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक वस्तु की उचित सीमाए होती हैं। उनसे बाहर चले जाना अनुचित होता है। प्रभु की वाणी की सीमाओं से बाहर जाने वाला उपदेश का प्रवाह सच्चा ज्ञान नहीं दे सकेगा। उसका रूप बदल जायगा। जैसे राजा की आज्ञा का उल्लघन करने वाला दड का भागी होता है, उसी तरह समस्त प्राणीमात्र के अनन्त हितचिन्तक देवाधिदेव भगवान् तीर्थंकरों की आज्ञा का उल्लघन करने वाले प्राणी को अनन्तकाल तक अनन्त जन्ममरण करने पड़ेंगे। नानाभाति के सासारिक दुखों को सहन करना ही पड़ेगा।

अगर धर्मोपदेशक शास्त्रानुकूल प्रवचन करता है, तनिक भी आगमों की वाणी का उल्लघन नहीं करता तो उसका भाषा प्रवाह उचित दिशा मे बहता हुआ अपने लक्ष्य की तरफ निरन्तर बढता ही जाएगा। इससे उसके

स्वयं का भी कल्याण होगा और दूसरे लोगों को भी कल्याण-मार्ग के जानने और समझने का ज्ञान प्राप्त होगा। अगर वह पथ भ्रष्ट होगा तो अपने साथ-साथ दूसरे लोगों का भी अहित करेगा। स्वयं कुमार्ग पर जाएगा और दूसरों को भी ले जाने की ओर संकेत करेगा। प्रवचन करना किसी भी तरह खतरे से खाली नहीं होता। उसके लिए बहुत अनुभव, गभीर चिंतन की आवश्यकता होती है। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है कि वह ऐसा कर सके।

कई लोग दया धर्म आदि के विषय में अनुचित और असत्य प्ररूपणा करके ससार को झूठा मार्ग बता गए। उल्टी मति और उल्टी समझ होने के कारण प्रत्येक वस्तु का स्वरूप भी उल्टा ही दिखाई देता है। ज्ञानियों के वचनों को समझने के लिये सन्मति सच्ची श्रद्धा और गहराई की आवश्यकता होती है। जब तक हम गम्भीरता से किसी वस्तु पर विचार न करेंगे, हमें सच्चा ज्ञान कभी प्राप्त न होगा। बुद्धि होना और बुद्धि का उचित दिशा में लगाना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यदि वक्ता भगवान के वचनों की तरफ पूर्ण लक्ष्य रखता है तो वह सफल होता है और श्रुत-ज्ञान की वृद्धि भी करता है। इतना ही नहीं वक्ता का व्यक्तित्व भी पवित्र और प्रभावशाली होना चाहिए। वह दूसरों को मार्ग बताने वाला है और वह स्वयं अगर उसका अनुसरण नहीं करता तो अन्य लोगों पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ेगा न उन्हें उस पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा ही मिलेगी। मनुष्य के सभी स्वाभाविक और सहज गुण उसमें होने चाहिए। उसका जीवन सरल प्रेममय और भव्य होने पर सभी लोग उससे प्रभावित होंगे उसकी बातों पर विश्वास करेंगे। उसका हृदय अन्दर और बाहर दोनों में समान हो। लोगों पर अधिक आडम्बर और कोरे प्रदर्शन अधिक समय तक कभी सफल नहीं होते। कभी न कभी उनका भेद और उनकी यथार्थता लोगों की दृष्टि में आ ही जाएगी। जैसा उसके हृदय में हो वैसा ही प्रकट करना लोगों को आकर्षित करता है। लोगों को झूठी बात कहना कपट कहलाता है, माया और छल कहलाता है।

शास्त्र में कहा है—

तव तेणे वय तेणे, रूव तेणे अ जे नरे।
आयार भाव तेणे अ, कुव्वइ देव किव्विसं॥
(दशवैकालिक सू० अध्याय ५ उ २ गाथा ४६)

सज्जनो! चोर भी कई प्रकार के होते हैं। धन चुराने वाले तो चोर होते ही हैं,किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी चोर हुआ करते हैं। कई तप की चोरी भी करते हैं। एक तपस्वी है, मास-मास खमण की तपस्या करता है। सभी जगह उसकी महिमा और यश फैल रहा है। दूर दूर से लोग उसके दर्शन करने आते हैं। एक अनजान व्यक्ति कहीं से आया और एक दुर्बल संत को देख कर पूछा कि —मैंने एक तपस्वी मुनि के सम्बन्ध में सुना है। क्या वे आप ही हैं? तब वह साधु कहता है— "तुम्हें यह बात नहीं पूछनी चाहिये। साधु ने संसार भोजन के लिए नहीं छोड़ा है। तपस्या तो हमारे जीवन की साधना है।" इस प्रकार कपट करके अपने को तपस्वी बताकर प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला मुनि महा मोहनीय कर्म का बन्ध करता है। ऐसे ही लोग तप के चोर कहलाते हैं। तपस्वी तो तपस्वी होता ही है—चोरी करने वाला उसका फल नही चुरा सकता।

सज्जनो! आज नागौर में मुनि वसन्ती लाल जी पचौले-पचौले पारणा कर रहे हैं। उधर सौराष्ट्र में स्वामी पं० घासीलाल जी महाराज विचर रहे हैं। वे तथा उनके साथी साधु प्रत्येक पक्खी को प्राय. तेला करते हैं। उनके पास रहने वाले दो साधु प्रति वर्ष चातुर्मास में साठ साठ, सत्तर-सत्तर दिन की निरतर तपस्या करते हैं। जिन शासन में आज भी रत्नों की कमी नहीं है। जो व्यक्ति तपस्वी न होते हुए भी अपने आपको तपस्वी प्रकट करता है, वह बड़ी भारी भूल करता है। एक न एक दिन तो सत्य प्रकट हो ही जाता है। गुण और अवगुण सामने आए बिना कभी नहीं रहते। आप लोगों ने मीरा बाई का नाम तो सुना ही होगा। उनकी महिमा बहुत दूर-दूर तक फैल गई थी। वे प्रभु-भक्ति में अपनी सुध बुध ही भूल बैठी थीं। आठों पहर उन्हें भगवान्

के सिवा किसी का ध्यान नहीं रहता था। उनके रग में इतनी अधिक रंग गई थी कि उन्हें दुनिया में कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। हमेशा भक्ति मे डूबी रहती थीं। उनके दर्शन करने के लिए दूर-दूर से लोग आते रहते थे।

एक समय एक आदमी उनके दर्शन के लिए आया। उसने ग्राम में आकर एक हीराँ नामक ब्राह्मणी से पूछा कि मीराबाई का घर कौन सा है? मुझे उनके दर्शन करने हैं। वह ब्राह्मणी अत्यन्त अशिष्टाचार से टागे फैलाकर, केश बिखेरकर अपने घर के बाहर बैठी हुई थी। उसने दर्शक से कहा कि :—

हीराँ मीराँ एक है, इसमें मीन न मेख।
जो मीरा देखा चाहें तो मुझ हीराँ ने देख॥

'हीराँ मीरा एक ही है। जो मीराँ है वही हीराँ है। तुम मुझे ही देख लो, तुम मेरे ही दर्शन कर लो।' उस दर्शक को यह बात उपहास सरीखी मालूम पड़ी। उससे रहा नहीं गया। उसने कविता में कहा है—

"बांदी राँड ब्राह्मणी, होड मीराँ की करे,
वह तो जहर का प्याला पी गई तू पीवे तो मरे"

कहने का तात्पर्य यह है कि असली तो असली ही होता है और नकली नकली ही। सज्जनो। हीराँ और मीराँ एक कैसे हो सकती हैं? मैंने कहा था कि अगर कोई साधु किसी तपस्वी की महिमा देख कर उसके तप की चोरी करता है तो वह चोर ही कहलाएगा। इसी प्रकार अगर कोई वाक्पटु है, उसमें भाषण करके लोगों को प्रभावित करने की शक्ति है और कोई किसी मुनि से कहे कि हमने सुना है कि अमुक मुनि वाक्पटु है, तो क्या वे आप ही हैं? यदि वह उत्तर दे कि साधु वक्ता होता ही है, इसमें क्या सन्देह? व्याख्यान देना, उपदेश देना तो सन्तों का कार्य ही होता है। ये तो आत्म-कल्याण के अनेक रास्ते हैं, जिसको जिसमें रस आ जाय वही उसके लिये हितकर हो जाएगा। इस प्रकार की बातें कह कर वह साधु दूसरे की वाक्पटुता की महिमा प्राप्त

करना चाहता है। वह वक्ता न होते हुए भी वक्तृत्व कला का झूठा प्रचार करता है। इस प्रकार यश की लिप्सा होना साधुत्व के लिए अनुचित है। साधु में वक्तृत्व शक्ति का होना आवश्यक नहीं है किन्तु साधुत्व का होना तो स्पष्टत. परमावश्यक है ही। एक साधु चाहे वक्ता न हो, न आहार पानी लाकर अन्य साधुओं की वैयावच्च ही करता हो, किन्तु उसमें पूर्णरूप से साधुत्व विद्यमान रहेगा। उत्कृष्ट भाव वाला मुनि आत्म-कल्याण के द्वार खोल लेता है। जो विरागी होते हैं, जिनके संसार छोड़ने और साधु बनने के भाव होते हैं, उन्हें अगर कोई अन्य व्यक्ति बहकावे कि तुम्हारी अध्ययन के लिए बुद्धि तीव्र नहीं है, तुम्हें तो सिर्फ पानी ही ढोना पड़ेगा, बड़े मुनियों के लिए आहार ही लाना पड़ेगा, उनकी सेवा ही करनी पड़ेगी—ऐसा कहने वाले उसकी धर्म साधना, धर्म भावना में बाधक होते हैं, अन्तराय डालने वाले होते हैं।

सज्जनो! इस प्रकार झूठी वक्तृत्व शक्ति द्वारा अपना प्रचार करने वाला वचन का चोर कहलाता है। इसी प्रकार रूप की चोरी भी की जा सकती है। एक रूपवान राजकुमार ने घर छोड़ दिया और मुनि बन गया। उसके भी दर्शन करने के लिए लोग आते हैं। कोई आदमी किसी रूपवान साधु से पूछता है कि क्या आप ही वे राजकुमार हैं जिन्होंने संसार छोड़कर साधुत्व अंगीकार किया है? तब वह उत्तर देता है कि—"क्या कभी दरिद्र घराने के लोग मुनि बनते हैं? हां, तुम जिसे पूछ रहे हो वह मैं ही हूं।" इस प्रकार के वचन कहने वाला साधु रूपचोर कहलाता है। मुनि आचार-चोर भी हो सकते हैं। एक साधु अपनी आत्म-साधना में लीन है। उसे अपने शरीर और वस्त्रों की तनिक भी चिन्ता नहीं है। सभी वस्त्र मलीन हो चुके हैं। उस साधक की प्रशंसा भी चारों तरफ फैली हुई है। एक व्यक्ति उनके दर्शनार्थ आता है और किसी दूसरे मुनि से पूछता है कि मैंने एक महान् साधक और अत्यन्त क्रियाशील महात्मा की महिमा सुनी है। क्या वे आप ही हैं? यदि वह उन महात्मा को न बताकर अपनी बातोंसे यह सिद्ध करना चाहेकि वह साधक और क्रियाशील सन्त

ही हूं, तो वह आचार-चोर कहलाएगा। सज्जनो! साधुत्व श्वेत, स्वच्छ, बहु-मूल्य या मलीन वस्त्रों में नहीं रहता है। साधना और तपस्या के लिए वस्त्रों का कोई उपयोग नहीं होता। जो आत्म ज्ञान और आत्म साधना के पथ पर अपनी समस्त शक्तिया केन्द्रित कर देते हैं, उन्हें वस्त्रों की ओर ध्यान देने का अवकाश कहाँ मिलेगा? क्या वे अपना अमूल्य समय वस्त्रों के लिए दे सकते हैं? कई मुनियों के वस्त्र अत्यन्त मलीन हो जाते हैं लेकिन उन्हें इस ओर लक्ष्य देने की चिन्ता ही नहीं रहती।

भगवान् ने कहा है—"हे मुनि! तेरी स्वच्छता शरीर के श्रृंगार के लिए नहीं है, यह तो सिर्फ व्यवहार है। इससे जीवन व्यवहार ठीक बना रहेगा। अगर इसकी चिन्ता न की जाये तब तो यह ससार समाज और मानव समुदाय छोड़कर जगल में चला जाना चाहिए। यदि हमें लोगों के बीच में रहना है तो किसी सीमा तक व्यावहारिक साधनों की आवश्यकता भी पड़ेगी ही। लेकिन सीमा का उल्लंघन नहीं होनी चाहिये। व्यावहारिक साधन शारी-रिक श्रृंगार के उपकरण नहीं बनें, इसकी ओर बराबर लक्ष्य दिया जाना चाहिये। मध्यम मार्ग इस तरह हम खोजलें कि व्यवहार भी न बिगड़े और शारीरिक सौंदर्य की ओर भी किसी का लक्ष्य न जाने पाये।

इसी तरह भावों की चोरी भी की जा सकती है। दूसरे के विचारों को अपने विचार कह कर उनका प्रचार करना भाव-चोरी कहलाती है। एक व्यक्ति ने कोई ग्रंथ लिखा। दूसरा व्यक्ति उसी सामग्री को थोड़ी बहुत भाषा या शब्दों को बदल कर अपने नाम से कोई दूसरा ग्रंथ लिख दे तो वह भाव चोरी कहलाती है। प्रत्येक व्यक्ति के साहित्यिक ग्रंथों पर उसका सर्वाधिकार होता है। बिना उसकी आज्ञा के कोई भी व्यक्ति अपने या दूसरे के नाम से प्रकाशित नहीं कर सकता। दूसरे के विचारों को उसी के नाम से तो उद्धृत किया जा सकता है, पर अपने नाम से नहीं। यदि कोई व्यक्ति ऐसी भाव-चोरी करता है तो वह किल्विषी नामक नीच जाति का देव बन जाता है! जैसे यहा ब्राह्मण, हरिजनों

से घृणा करते हैं और उन्हें अपने पास नहीं बैठने देते, उसी प्रकार उन देवों की बेइज्जती होती है। उनका तनिक भी सम्मान न होकर सर्वत्र तिरस्कार ही होता है।

इतना सब कुछ कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् की वाणी जैसी हो—वैसी ही बोलनी चाहिए। वक्ता पूर्ण रूप से निष्कपट होना चाहिए। मन में कुछ और एव वचन में कुछ और होना प्रामाणिकता नहीं कहलाती। सज्जनो! हमारा श्रमणसंघ अब बन चुका है। अलग-अलग बिखरे हुए मोती एक सूत्र में पिरोए जा चुके हैं। कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं जो ऊपर से तो श्रमणसंघ के बड़े हित-चिंतक कहलाते हैं किन्तु अन्दर से वे अपना वही अहंभाव रखते हैं। पद का लोभ उनसे नहीं छोड़ा जाता। यश की लिप्सा लगी ही हुई है। किन्तु ऐसी नीति रखने वाले कहीं के भी नहीं रहते। जो कुछ भी कहना हो स्पष्ट, रूप से दृढतापूर्वक और ससार के सन्मुख ही कहना चाहिए। यदि कठोर बनना है तो पत्थर, अन्यथा मोम बनना अच्छा है। किन्तु एक समय में एक ही वस्तु ग्रहण करने की ओर लक्ष्य होना चाहिए। जीवन के सिद्धान्त निश्चित होने चाहिए। लोगों के सामने उन्हें प्रकट करने में सकोच क्यों? ऊपर से तो सगठन का ढोंग करते हैं और अदर से अपनत्व की भावना को बढाते चले जाते हैं। ऐसी मनोवृत्ति अत्यन्त क्षुद्र होती है। वे सोचते हैं कि कहीं हमारी भेड़ें दूसरी भेड़ों में न मिल जाएँ,हमें छठे महीने में उनकी ऊन जो उतारनी है। अभी तक अपने स्थानों का अपनी सम्प्रदायों का मोह उनसे छूटा नहीं है। अभी तक वही अपनी अपनी जीर्ण दीवारें उन्हें पसन्द हैं। नवनिर्मित सुन्दर, सुदृढ प्रासाद को छोड़ कर लोग अपनी पुरानी दीवारों का मोह लिए बैठे हैं। यह कैसी मनोवृत्ति है? सज्जनो। मैं अधिक क्या कहूँ? आप लोग सब एक धर्म स्थान पर मिल कर सामायिक, प्रतिक्रमण पौषधादि धार्मिक कृत्य भी नहीं कर सकते। इसका मूल कारण क्या है? जहाँ राजा होता है, वहाँ सभी राजकर्मचारी स्वयं ही आ जाते हैं। किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि जहाँ साधु मुनि-

राज विराजते हैं, उनके दर्शन, व्याख्यान वाणी का लाभ मिल रहा है, कितने ही लोग फिर भी अपने अपने पूर्व सम्प्रदायगत उपाश्रयों में ही पड़े रहते हैं। उनकी मनोवृत्ति कितनी संकुचित है ? श्रमण-संघ की विशालता को वे कितना सीमित और कमजोर बनाते जा रहे हैं। जब तक इन भावनाओं का मूलोच्छेद नहीं होगा, यह हमारा श्रमण-संघ कभी सफल नहीं हो सकेगा।

सज्जनो! मैं खूब समझ रहा हूं, खूब अच्छी तरह से आप लोगों का अध्ययन कर रहा हूं। दाई से पेट की नस छिपी नहीं रहती है। कुछ ही दिनों में पर्यूषणपर्व आने वाला है। तुम्हारी गुरु श्रद्धा का पता लग जाएगा। तुम बड़ी-बड़ी विनती करके सन्तों का चातुर्मास करवाते हो, दूर-दूर का बिहार करके मुनि आपके यहा आते हैं और जब पर्यूषण-पर्व आता है तो अपने पूर्व कंठी बंध गुरुओं के पास भागते फिरते हो। यह सम्प्रदायवाद का विष और गुरु मोह नहीं तो और क्या है ?

मैं पूछना चाहता हूँ कि जब से श्री वर्धमान स्था० जैन श्रमण संघ बना है, तब से आप लोगों ने अपने पूर्व सम्प्रदायगत आचार्यों या पहिले माने हुए गुरुओं के कितनी बार दर्शन किये और श्रमणसंघ के प्रधान आचार्य श्री आत्माराम जी महा० सा० के कितनी बार किए ? पूर्व साम्प्रदायिक आचार्यों के दर्शन तो साल में कई बार हो जाते हैं, लेकिन जो हमारे सब के शिरोमणि आचार्य हैं, उनके प्रति एकदम उदासीनता रहे, यह कितनी भूल की बात है ?

अपने घर में सब प्रकार के मधुर मिष्टान्न तैयार हैं, फिर भी बाहर भागते फिरते हो ? किन्तु याद रखना! मैं खुले शब्दों में तुम्हें चेतावनी देता हूँ— जोधपुर में भी दी थी, यहा भी दे रहा हूं कि यदि यही बात रही तो मैं समझूंगा कि अभी तक आपके दिलों पर सम्प्रदायवाद का भूत सवार है। ठीक है, दर्शनों का भी लाभ लेना है—लेकिन यह उचित नहीं कि चातुर्मास करा

कर कोई इस दिशा की ओर गमन करे और कोई उससे विपरीत दिशा को ही अपना लक्ष्य बना ले। मैं जो कहता हूं आप लोगों को उस पर विचार करना चाहिये। सज्जनो! चढ़ाई के समय सैनिक अगर कहें कि हमें अमुक काम के लिये अमुक स्थान पर जाना है, तो ऐसे सैनिकों को सेना की शोभा बढ़ाने की अपेक्षा किसी तपोवन की शोभा ही बढ़ानी चाहिये। नगर और राष्ट्र की सुरक्षा का भार उनके कंधों पर डालने का कोई उपयोग नहीं। सैनिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे समय पर देश-समाज और धर्म की रक्षा करें। अन्य समय में वे चाहे जो कर सकते हैं। कहीं भी जा सकते हैं। ब्यावर निवासियों! ध्यान देकर सुनने और समझने का प्रयत्न कीजिये। अब हमारा पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया है, हम एक हो गए हैं—यह दाहिना हाथ है, यह वाम है, यह पाँव और ये नेत्र हैं, पर मूलत शरीर एक ही है। सब वस्तुओं को एक में ही केन्द्रित कर देने पर एक शरीर बन जाता है। इसी दृष्टि से हमें सोचने का प्रयत्न करना चाहिये। सम्प्रदाय के क्षुद्रपन से ऊँचा उठ कर हमें अपना दृष्टिकोण विशाल बनाना है। हमें अब नीचे न गिर कर ऊपर उठना है, पीछे न जाकर आगे बढ़ना है। अगर स्वार्थ का विष, सकुचितता की जड़ें न फैलीं तो निश्चित रूप से हमारा श्रमण सघ फूलता फलता रहेगा। मैं क्या कहू? आप लोग एक स्थान पर बैठ कर प्रतिक्रमण भी नहीं कर सकते हो। अपना-अपना राग अलग-अलग अलापते हो। किसी की भी आवाज स्पष्ट रूप से सुनाई नहीं देती। सब मिल कर एक विचित्र प्रकार का कोलाहल ही हो जाता है, जो सुनने में अत्यन्त कटु और कठोर लगता है। इसलिये मैं आप से अपील करता हूँ कि आप शुद्ध मन से एक हो जाइए। किन्तु महान् दु ख और शोक है कि गुरु तो श्रमण सघ में मिल गए पर उनके कितनेक अन्ध-भक्त अभी तक उन जहरीली भावनाओं को नहीं छोड़ना चाहते!

सज्जनो! आप लोग प्रेम से मिलकर धर्म ध्यान करें, इसी में जिन-शासन की शोभा है। एक-एक बूंद से समुद्र बन जाता है। अगर वही

राज विराजते हैं, उनके दर्शन, व्याख्यान वाणी का लाभ मिल रहा है, कितने ही लोग फिर भी अपने अपने पूर्व सम्प्रदायगत उपाश्रयों में ही पड़े रहते हैं। उनकी मनोवृत्ति कितनी सकुचित है ? श्रमण-संघ की विशालता को वे कितना सीमित और कमजोर बनाते जा रहे हैं। जब तक इन भावनाओं का मूलोच्छेद नहीं होगा, यह हमारा श्रमण-सघ कभी सफल नहीं हो सकेगा ।

सज्जनो ! मैं खूब समझ रहा हूं, खूब अच्छी तरह से आप लोगों का अध्ययन कर रहा हूं। दाई से पेट की नस छिपी नहीं रहती है। कुछ ही दिनों में पर्यूषणपर्व आने वाला है। तुम्हारी गुरु श्रद्धा का पता लग जाएगा। तुम बड़ी-बड़ी विनती करके सन्तों का चातुर्मास करवाते हो, दूर-दूर का बिहार करके मुनि आपके यहा आते हैं और जब पर्यूषण-पर्व आता है तो अपने पूर्व कंठी बंध गुरुओं के पास भागते फिरते हो। यह सम्प्रदायवाद का विष और गुरु मोह नहीं तो और क्या है ?

मैं पूछना चाहता हूँ कि जब से श्री वर्धमान स्था० जैन श्रमण संघ बना है, तब से आप लोगों ने अपने पूर्व सम्प्रदायगत आचार्यों या पहिले माने हुए गुरुओं के कितनी बार दर्शन किये और श्रमणसघ के प्रधान आचार्य श्री आत्माराम जी महा० सा० के कितनी बार किए ? पूर्व साम्प्रदायिक आचार्यों के दर्शन तो साल में कई बार हो जाते हैं, लेकिन जो हमारे सब के शिरोमणि आचार्य हैं, उनके प्रति एकदम उदासीनता रहे, यह कितनी भूल की बात है ?

अपने घर में सब प्रकार के मधुर मिष्टान्न तैयार हैं, फिर भी बाहर भागते फिरते हो ? किन्तु याद रखना ! मैं खुले शब्दों में तुम्हें चेतावनी देता हूँ—जोधपुर में भी दी थी, यहा भी दे रहा हूं कि यदि यही बात रही तो मैं समझूं गा कि अभी तक आपके दिलों पर सम्प्रदायवाद का भूत सवार है। ठीक है, दर्शनों का भी लाभ लेना है—लेकिन यह उचित नहीं कि चातुर्मास करा

कर कोई इस दिशा की ओर गमन करे और कोई उससे विपरीत दिशा को ही अपना लक्ष्य बना ले। मैं जो कहता हूं आप लोगों को उस पर विचार करना चाहिये। सज्जनो! चढ़ाई के समय सैनिक अगर कहें कि हमें अमुक काम के लिये अमुक स्थान पर जाना है, तो ऐसे सैनिकों को सेना की शोभा बढाने की अपेक्षा किसी तपोवन की शोभा ही बढ़ानी चाहिये। नगर और राष्ट्र की सुरक्षा का भार उनके कधों पर डालने का कोई उपयोग नहीं। सैनिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे समय पर देश-समाज और धर्म की रक्षा करें। अन्य समय में वे चाहे जो कर सकते हैं। कहीं भी जा सकते हैं। ब्यावर निवासियों! ध्यान देकर सुनने और समझने का प्रयत्न कीजिये। अब हमारा पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया है हम एक हो गए हैं—यह दाहिना हाथ है, यह वाम है, यह पॉव और ये नेत्र हैं, पर मूलत शरीर एक ही है। सब वस्तुओं को एक में ही केन्द्रित कर देने पर एक शरीर बन जाता है। इसी दृष्टि से हमें सोचने का प्रयत्न करना चाहिये। सम्प्रदाय के क्षुद्रपन से ऊँचा उठ कर हमें अपना दृष्टिकोण विशाल बनाना है। हमें अब नीचे न गिर कर ऊपर उठना है, पीछे न जाकर आगे बढ़ना है। अगर स्वार्थ का विष, संकुचितता की जड़ें न फैलीं तो निश्चित रूप से हमारा श्रमण सघ फूलता फलता रहेगा। मैं क्या कहूं? आप लोग एक स्थान पर बैठ कर प्रतिक्रमण भी नहीं कर सकते हो। अपना-अपना राग अलग-अलग अलापते हो। किसी की भी आवाज स्पष्ट रूप से सुनाई नहीं देती। सब मिल कर एक विचित्र प्रकार का कोलाहल ही हो जाता है, जो सुनने में अत्यन्त कटु और कठोर लगता है। इसलिये मैं आप से अपील करता हूँ कि आप शुद्ध मन से एक हो जाइए। किन्तु महान् दु ख और शोक है कि गुरु तो श्रमण सघ में मिल गए पर उनके कितनेक अन्ध-भक्त अभी तक उन जहरीली भावनाओं को नहीं छोड़ना चाहते।

सज्जनो! आप लोग प्रेम से मिलकर धर्म ध्यान करें, इसी में जिन-शासन की शोभा है। एक-एक बूद से समुद्र बन जाता है। अगर वही

बूंदे अलग-अलग हो जाएं तो उनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहे—कहीं पता भी न चले। दुनिया में अगर कहीं बल है तो वह सिर्फ संगठन में ही है। इसीलिए कहा गया है कि—"संघे शक्ति कलौ युगे।" आप लोगों को मिल कर प्रेम से आगे बढ़ना चाहिये। जिन-शासन को संसार के सामने हमें अधिक स्पष्ट, सुन्दर और आलोकित करके रखना है।

मैं कह रहा था कि वक्ता वही सफल होता है जो कि मन के भाव ठीक शत प्रतिशत उसी रूप में संसार के समक्ष रख दे। यदि ऐसी सामर्थ्य उसमें नहीं है तो वह सफल वक्तृत्व शक्ति वाला कभी नहीं कहा जा सकता। इससे आत्मा का पतन होता है, संघ की हानि होती है। जिन शासन को सुशोभित करने वाला वक्ता तो अत्यन्त सरल प्रकृति का और निष्कपट होना चाहिए। अपने आप को सबसे ऊंचा, सबसे बुद्धिमान, सबसे विद्वान समझ कर अपनी ही बातों का प्रतिपादन निरन्तर करने वाला अभिमानी कहलाता है। अभिमान मानव के सभी गुणों को अवगुण बना देता है। लोगों की दृष्टि में उसकी योग्यता, उसकी प्रतिभा की कोई प्रतिष्ठा नहीं रहती। मानव चाहे कितना ऊपर क्यों न पहुंच जाए, चाहे कितना कठोर साधक, तपस्वी ही क्यों न हो, अगर उसे अभिमान आ जाए, तो उसकी साधना, तपस्या की कोई कीमत नहीं। इसी प्रकार उपदेशक और वक्ता को अत्यन्त निरभिमानी और सरल प्रकृति का होना चाहिये। ऐसा होने पर ही लोग उसका आदर और सम्मान करेंगे।

समाज में रहने पर अनेक कठिनाइयों और समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वक्ता को अपनी योग्यता और ज्ञान द्वारा सभी कठिनाइयों को पार कर लेना चाहिये। जो व्यक्ति क्षमाशील होते हैं, वे भूल करने वाले, अपराध करने वाले अबोध प्राणियों के भले ही आदर के पात्र न बने लेकिन वे अपनी योग्यता व क्षमाशीलता से उन्हें सुधार लेते हैं। अगर सभी पापियों से घृणा करने लगें उनसे दूर हटने लगें तो उन्हें सही मार्ग

कौन बताए, उनका सुधार कैसे हो। कुछ महान् व्यक्ति, कुछ विशाल हृदय वाले ऐसे भी होने चाहिये जो उनसे प्रेम करें और उनके हृदय में सत्कार्य करने की भावना उत्पन्न करें। वक्ता के ऊपर बड़ी जिम्मेवारी होती है। उसे सभी प्रकार के प्राणियों को मार्ग बताना होता है। किसी से घृणा नहीं करनी होती। अत्यन्त क्षमाशील प्राणी ही ऐसा उत्तरदायित्व निभा सकता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मध्यममार्ग को स्वीकार करके ही हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। पाडित्य प्रतिभाया ज्ञान का मान या घमण्ड न हो,पर वक्ता में आत्म विश्वास, अनुशासन और स्वाभिमान तो होना ही चाहिए। वह क्रोधी न हो, पर अन्याय, अधर्म के प्रति कठोर विरोधी रुख वाला तो हो। भगवान् महावीर को तत्कालीन समाज व्यवस्था और धर्म की विकृतियों को दूर करनेके लिए अत्यन्त कठोर बनना पड़ता था। राष्ट्र व समाज में क्रान्ति उत्पन्न करना कमजोर हृदय वाले के लिए संभव नहीं है। अपने सिद्धान्तों पर पर्वत की भाति अडिग रह कर जगत् के प्रहारों को सहन करने का सामर्थ्य भी होना चाहिये क्षमाशील रहे पर अधर्म का कड़े शब्दो में विरोध करे। ऐसे समय में वाणी में उतेजना का होना भी आवश्यक है। पर उत्तेजक मन स्थिति उसके वश में हो, प्रत्येक अवसर पर, हर क्षण उत्तेजना होना अनुचित है। सिर्फ अधर्म का प्रतिकार करने के समय वह प्रभावशाली होती है। प्रत्येक वस्तु अपनी मर्यादा और सीमा में रहने पर ही लाभदायक हो सकती है। उचित नियंत्रण प्रत्येक पर रखना चाहिये।

वक्ता यश-लोलुप अथवा अर्थ लोलुप न हो। इससे प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। शब्दों का सौन्दर्य ही प्रभावशाली नहीं होता, मनुष्य के व्यक्तित्व की छाप ही अधिक प्रभावशाली होती है। जो प्रतिष्ठा का भूखा हो जाता है, उसके उपदेश देने से कोई लाभ नहीं। लोगों पर उसका कोई असर नहीं होगा। वह समाज को ज्ञान नहीं दे रहा है, प्रभु की वाणी का प्रचार नहीं कर रहा है किन्तु प्रतिष्ठा अर्जन करना चाहता है। उपदेशक को तो सत्र की सेवा का

उद्देश्य मन में रखना चाहिए। श्रुतज्ञान को उत्पन्न करना ही उसका लक्ष्य हो। उसे सोचना चाहिए कि उसकी यह अत्यन्त पुण्यवानी है कि उसे श्रुतज्ञान की प्राप्ति हो गई और अन्य लोगो में प्रचार करने का अवसर उसे प्राप्त हो रहा है। ये दुर्लभ वस्तुए, यह मूल्यवान् अवसर प्रत्येक को नहीं मिलता।

भगवान से एक वार प्रश्न किया गया—"हे भगवान्! धर्म कथा करने से क्या लाभ?" भगवान ने उत्तर दिया, "हे शिष्य। धर्म कथा से कर्मो की निर्जरा होती है।" जीवों के कल्याण के लिए, धर्म-भावना के लिए ज्ञान प्रचार के लिए जो उपदेश देता है, वह अपने कर्मों की निर्जरा कर लेता है। जो जिन वचनों की प्रभावना करता है, उसे महान् आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है, पुण्य का उपार्जन होता है। उसे इस लोक और परलोक में सुख और शाति की प्राप्ति होगी।

शब्दों के गूढ अर्थों की जानकारी रखने वाला वक्ता ही शास्त्रों के मर्म को समझ सकता है। एक शब्द के कई अर्थ होते है। परन्तु जिस अर्थ में वह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसी अर्थ में समझना सच्चा ज्ञान होता है। वैसे तो मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार चाहे जैसे अर्थ एक शब्द के लगा सकता है। कहा जाता है—'मुडे-मुडे मतिर्भिन्ना' प्रत्येक मस्तिष्क में अलग-अलग प्रकार की बुद्धि रहा करती है। जो शब्द जिस परिस्थिति में जिस समय जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसको उसी अर्थ में समझना ही बुद्धिमत्ता है। वक्ता में यह योग्यता विशेष रूप से होनी चाहिए।

वक्ता को बहुत धैर्यशील भी होना चाहिए। थोड़ी सी कठिनाई में घबरा जाने वाला वक्ता जीवन में सफल नहीं होगा। कोई प्रश्न करे तर्क करे, दलील दे तो उसका युक्ति-सगत उत्तर देने की सामर्थ्य उसमें हो। ससार में अनेक प्रकार के मत मतान्तर धर्म और दर्शन हैं। सब अपनी अपनी दृष्टि से वस्तुओं का प्रतिपादन करते हैं। अपनी विचार-धारा उपस्थित करने के लिए सभी

अन्य दृष्टियों की मीमांसा और प्रतिपादन करना होगा। कठिनाई में घबराने से काम नहीं बनता है। अपनी शंका के समाधान के लिए अन्य आचार्यों और महत्वपूर्ण ग्रंथों की सहायता ले। वक्ता दुराग्रही न हो। अगर भूल से अनुचित बात निकल जाए तो उसी को सिद्ध करने के लिए उल्टे सीधे तर्कों का सहारा न ले। एक झूठ को सिद्ध करने के लिए सौ झूठ बोलने पड़ते हैं। एक बार भूल से कोई बात कह दी गई हो तो दूसरी बार उसे सुधार ले, ऐसा करने से मनुष्य अधिक प्रामाणिक हो जाता है, उसका कथन अधिक विश्वस्त माना जाता है। जीवन भी उपदेशों के अनुसार ढला हुआ होने से अत्यन्त प्रभावशील होता है। कोरी शिक्षा देना उचित नहीं। स्वय को भी उसका पालन करना चाहिए।

सज्जनो! कोई साधु कथा सुना रहे थे। कह रहे थे—"देखो भाइयो! चोरी नहीं करना चाहिए। यह महान पाप है। चोरी करने वाला इस लोक और परलोक में कभी सुखी नहीं हो सकता। हिंसा नहीं करना चाहिए। किसी भी प्राणी को तन से और मन से दुख नहीं देना चाहिए—ये सब पाप कर्म हैं। ऐसे कार्य करने से आत्मा पतन की ओर चली जाती है। वे चारों महाव्रतों पर तो बहुत जोर देते थे पर जब परिग्रह का नम्बर आता था तब इतना ही कह देते थे कि परिग्रह रखना बुरा है, अधिक परिग्रह में नहीं पड़ना चाहिए। कोई एक श्रोता भी विलक्षण और तेज होते हैं। सभी एक प्रकार के तो नहीं होते। एक श्रोता व्याख्यान बहुत ध्यान देकर सुना करता था। उसने कई बार लक्ष्य किया कि साधु जी हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का तो बहुत जोरों से विरोध करते हैं पर जब परिग्रह का नम्बर आता है तो टालमटोल करने लगते हैं। मुझे तो इसमें कुछ शंका सी उत्पन्न होती है। यह क्या मामला है। मुझे परीक्षण तो इस सम्बन्ध में करना चाहिए। एक दिन स्वामी जी गोचरी के लिए गए हुए थे और उधर उस श्रावक जी ने गुरु जी की तलाशी लेनी शुरु कर दी। देखते देखते एक स्थान पर उन्हें पीली पीली चमकती हुई

स्वर्ण मुहरे दिखाई दीं। वे समझ गये कि यही गुरुजी की कमजोरी है। यही भेद रहा हुआ था, आज ही यह रहस्योद्घाटन हो रहा है। यही वस्तु परिग्रह पर बोलते समय उनकी वाणी को लड़खड़ा देती थी, वह उन्हें लेकर अपने घर चला आया। जब गुरु जी आहार पानी लेकर आए और आहार करके खोज बीन की तो वे स्वर्णमुद्राए उन्हें नहीं मिलीं। मन मसोस कर ही वे रह गए! किसी से पूछ भी नहीं सकते थे। बाहर जाकर तलाश भी नहीं कर सकते थे। किसी तरह उन्होंने मन को समझाया उन्होने कहा मुझे परिग्रह छोड़ना कठिन लगता था, किन्तु किसी परोपकारी ने उसे छुड़ा दिया।

दूसरे दिन व्याख्यान में अन्य चार महाव्रतों को गौण करके उन्होंने परिग्रह पर ही जोरों से बोलना प्रारम्भ कर दिया। आज व्याख्यान का विषय परिग्रह ही था। उन्होंने कहा परिग्रह ही दुख का मूल है। यही मनुष्य की मति को विकृत करने वाला है। इतने दिन की पूरी कसर उन्होंने आज बोल कर पूरी कर दी। उस श्रावक ने सोचा आज बीमारी दूर हो गई है। अब ये मुख खोलने की शक्ति प्राप्त करने लग गये हैं। उसे बहुत खुशी हुई वह गुरु जी के पास गया और वन्दन करके बोला—"गुरु देव! यह आप की अमानत मैं ही ले गया था। मुझे कुछ शका सी उत्पन्न हो गई थी और उसे दूर करने का मैंने विचार किया था।" बाबाजी बोले "कृपा करके इन्हें अब मेरी आखों से दूर ले जाओ। इसने मेरी वाणी ही अवरुद्ध कर दी थी।" श्रावक ने कहा—'मैं क्या करू?' बाबा जी बोले—"यह तो पिशाचिनी है। तू ने मेरा भला किया जो इससे पीछा छुड़ा दिया।" उस श्रावक को मुहरों का उपहार भी मिल गया और गुरुजी को भी ठीक रास्ते पर ले आया।

मैं कह रहा था कि अगर कोई निंदनीय कर्म वक्ता के जीवन में हो तो उसे सत्य बात कहने में संकोच होता है। श्रुत ज्ञान के देने वाले वक्ता में जो गुण होने चाहिए उनका मैंने स्पष्टीकरण किया। ऐसे वक्ताओं का उपदेश सुन

कर अनेक जीवों ने अपनी आत्मा का कल्याण किया और सम्यक्त्व की प्राप्ति की। सच्चे मन से शुद्ध अन्त करण से पवित्र भावनाओं से जो श्रुत ज्ञान देते हैं, उससे निश्चित रूप से वक्ता और श्रोता दोनों का कल्याण होता है।

ब्यावर
१६-८-५६

९

मिच्छादिट्ठी न सिज्झइ

वीर सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीर बुधा संश्रिताः
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नम. ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचय. हे वीर! भद्र दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा. पूज्या उपाध्यायका ।
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका'
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सुखाभिलाषी सज्जनो! जैन धर्म अनादि काल से यह घोषणा करता आ रहा है दुनिया के लिए कि ऐ जीवो! अगर तुम आत्मिक ज्ञान चाहते हो, कल्याण चाहते हो और निर्वाण चाहते हो तो सब से पहले तुम्हें सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए। मोक्ष के लिए की जाने वाली तुम्हारी जप तप आदि धार्मिक क्रियाए सम्यक्त्व पूर्वक ही होनी चाहिए। कोई आज से ही नहीं अनादि काल से और केवल मेरी ही नहीं वरन् अतीत काल में जो अनन्त-अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं, उनकी यही पुकार रही है कि जीवात्मा को सर्वप्रथम

सम्यग्दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। जब हम शास्त्रों के पृष्ठ खोलते हैं तो सर्वत्र एक ही सदेश पाते हैं। अपने पूर्वजों की बात पर ध्यान देते हैं तो एक ही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि—'जीवात्माओ ! समकित की उपलब्धि करो' !

जब तक समकित प्राप्त नहीं हुआ, सम्यक्त्व रूपी चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति नहीं हुई, तब तक कोई भी कठोर से कठोर क्रिया उच्च से उच्च समझा जाने वाला अनुष्ठान मोक्ष प्रदाता नहीं होता ! हा उससे भौतिक सुख मिल सकता है, परन्तु अनन्त आत्मिक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

ज्ञानी जनों ने हमारा जो मार्ग-प्रदर्शन किया है, बहुत सोच-विचार कर, अनुभव करके ही किया है। यह नहीं कि चित्त की चपल तरगों में बह कर जो मन में आया अचानक ही कह दिया हो। उन्होंने अपने दीर्घ जीवन का अधिकाश भाग साधना में व्यतीत किया है। मौन चिन्तन मनन और ध्यान में गुजारा है और फिर अपने अनुभव को जगत के हित के लिए प्रस्तुत किया है। अत. उनका कथन हमारे सामने अतीव मूल्यवान वस्तु है। नियुक्तिकार घोषणा करते हैं—

कुणमाणों वि निविर्त्तिं, परिच्चयंतों वि सयण धण भोए।
दिंतो वि दुहस्स उर, मिच्छादिट्ठी न सिज्झइ उ ॥

सज्जनो ! यह शास्त्र की गाथा है। मैंने जो कहा है वही भाव इसमें प्रकट किये गये हैं। मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा हूँ, केवल ज्ञानियों के वचन, शास्त्र की बात आप के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

मिथ्यादृष्टि निवृत्ति करता हुआ भी अपनी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता। संसार में दो मार्ग हैं—एक प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग। इन्द्रियों का भोगों की ओर आकर्षित होना, इन्द्रियों के भोगों के साधन जुटाना और उनका रक्षण करना, फिर उन्हें काम में लाना, यह सब प्रवृत्ति मार्ग है। और विषयविकार की ओर से चित्तवृत्ति को विमुख कर लेना भोग की ओर से

पीठ फेर लेना, संसार सम्बन्धी नाना प्रकार के प्रपचों का परित्याग कर देना और आत्मा में रमण करना यह निवृत्तिमार्ग है।

निवृत्ति भी दो प्रकार की है द्रव्यनिवृत्ति और भावनिवृत्ति। किसी ने भौतिक पदार्थ का त्याग कर दिया है, वह सुनसान वन में या पर्वत की गुफा में जाकर ध्यानस्थ हो गया है आंखें बद करके बैठ गया है, भोगोपभोग का त्याग कर दिया है, इस सब के बावजूद भी उन पदार्थों की कामना का त्याग नहीं कर सका इच्छा को काबू में नहीं कर पाया और चित्त की चाह को नहीं जीत सका है, और भोगोपभोग के पदार्थों की तरफ जो आसक्ति अभिरुचि, लगन या गृद्धि थी, जो अन्दरूनी बीमारी थी, वह बनी हुई है तो समझ लेना चाहिए कि उसकी वह निवृत्ति द्रव्यनिवृत्ति मात्र है। भाई, इस प्रकार की दावादूबी से काम नहीं चल सकता।

शरीर के किसी अग में फोड़ा हो गया। अगर उस फोड़े के मु ह पर दवा लगा कर ऊपर से उसे मिटा भी लिया जाय और उसके भीतर जो गदगी भरी पड़ी है, पीव आ रही है, उसका क्या होगा। जब तक वह साफ न हो जायगी, याद रखना, तब तक बीमारी मिटने वाली नहीं है। यही नहीं वह दिन प्रति दिन भयकर रूप धारण करती ही जायगी। हा, भीतर की रसी निकाल कर सफाई की जाती है, घाव ठीक किया जाता है तो फिर भविष्य में वह वेदना का कारण नहीं बनता।

इसी प्रकार किसी साधक ने फोड़े पर ऊपर से पट्टी बाधने के समान बाह्य त्याग अपना लिया साधु का वेष धारण कर लिया और बाहर से पूरा-पूरा इन्तजाम कर लिया किन्तु भोग की मनोवृत्ति को नहीं जीता, लोलुपता का लोप नहीं किया आसक्ति की बीमारी को अन्दर ही अन्दर बढ़ने दिया तो सब निरर्थक है, उस बाह्य त्याग का कोई मूल्य नहीं, बीमारी एक दिन बढ़ जायगी और ऐसा विस्फोट होगा कि डाक्टरों को भी सभालना कठिन हो जायगा। उसका परिणाम बड़ा भयकर होगा। तो इस प्रकार की ऊपरी निवृत्ति द्रव्यनिवृत्ति है।

भावनिवृत्ति आये विना आत्मोत्थान की संभावना नहीं की जा सकती। किसी व्यक्ति ने द्रव्य से भोगोपभोग के पदार्थों का त्याग किया है अथवा नहीं भी किया है, किन्तु उन पदार्थों सम्बन्धी आसक्ति का पूर्ण रूप से त्याग कर दिया है, निरीह भाव से उनका उपयोग भी हो जाता है तो वे भोग्य पदार्थ आत्मा का क्या विगाड़ सकते हैं। विगाड़ने वाले तो अपने भाव ही है।

हा उन पदार्थों में अगर हमारी आसक्ति है फिर चाहे वह प्रकट हो या अप्रकट ज्ञात हो या अज्ञात, तव तो वह भोग रूप ही है, किन्तु यदि उन पदार्थों के प्रति हमारे चित्त में चाह नहीं है, आसक्ति नहीं है तो पदार्थ पड़े-पड़े हमारा क्या विगाड़ लेंगे ? हमें क्या कहेंगे ? वे वोलते नहीं, भाग कर हमारे पास आते नहीं और कहते नहीं कि तुम हमें भोगो। इसी प्रकार वे हमारे त्याग भाव को भंग भी नहीं कर सकते। उन पदार्थों को भोक्ता की चाह नहीं, भोक्ता को ही उन पदार्थों की चाह है। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर जड़ पदार्थों को लेकर हमारा अनासक्ति भाव खंडित होता है, आत्मा में विकार उत्पन्न होता है, आत्मा का पतन होता है तो वेचारे वाह्य पदार्थों का कोई दोष नहीं है, अपराध नहीं है। अगर अपराध किसी का है तो हमारे ही भावों का है। अतएव जिस ने अपनी अन्तरात्मा को अनासक्त वना लिया है। उसके चारों तरफ भोग्य पदार्थ विखरे पड़े हैं तो पडे हैं। वे उस त्यागी की कुछ भी हानि नहीं कर सकते। कुछ नहीं विगाड़ सकते।

वदूक में गोलिया भरी पडी हैं तो पड़ी रहें। वे किसी को चोट नहीं पहुँचा सकतीं। क्योंकि उनमें स्वय प्रहार करने की मार देने की शक्ति नहीं है। अगर वे प्रहार करती हैं तो किसी व्यक्ति के द्वारा ही करती हैं। जैसे ईंट पत्थर आदि अन्यान्य पदार्थ पड़े हैं, वैसे ही वे भी पडी हैं। स्वय आकर किसी को घायल करने की शक्ति उनमें नहीं है। विना व्यक्ति की सहायता के शस्त्र, तीर या भाले कुछ नहीं कर सकते।

इसी प्रकार दुनिया में भोगोपभोग की जो वस्तुएं हैं वे स्वयं हमारे पास नहीं आती हैं और न हमें मजबूर करती हैं कि तुम हमें भोगो! मजबूर होते हैं उन्हें भोगने के लिए तो हम ही होते हैं। हम स्वयं उनकी तरफ खिंचते हैं और उन्हें भोगते हैं।

तो सज्जनो! असली वस्तु भावनिवृत्ति है। द्रव्य का त्याग कर दिया और उसे छोड़ कर तपोवन में छिप कर बैठ गए, किन्तु याद रखिए इस प्रकार लुक छिप कर बैठने से बीमारी मिटने वाली नहीं है। मनुष्य के मन में भोग की जो आकांक्षा है, आसक्ति है गृद्धि है लोलुपता है, वह तो तपोवन में भी साथ चली जाती है, गिरि गुफा में भी जा सकती है? और असली बात उसी से बचने की है। उससे न बचे तो फिर तपोवन आदि में जाने से ही क्या लाभ हो सकता है। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि जिन्होंने भोगासक्ति का त्याग कर दिया है, उसकी जड़ों को हृदय में से उखाड़ कर फैंक दिया है, वही सच्चा निवृत्ति-परायण पुरुष है और उसके चित्त में फिर नये सिरे से आसक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। हा यदि आसक्ति ऊपर-ऊपर से ही कटी है तो किसी भी समय उग्र रूप धार सकती है। तो बाहरी तौर पर भोगोपभोग के पदार्थों को छोड़ कर चले जाना ऊपर-ऊपर से घास को काटने के समान है। समय पाकर वही फिर उग आएगी, पनप उठेगी। यह द्रव्य-निवृत्ति है। किन्तु जब विषय की वासना का समूल उन्मूलन कर दिया जाता है और अन्त. करण में उसका कोई स्थान ही नहीं रह जाता, तभी वह निवृत्ति सच्ची या भावनिमित्त कहलाती है और वही निराकुल सहजानन्द का कारण बनती है।

एक व्यक्ति साधु बन जाता है और महीने-महीने का अनशन तप करता है, किन्तु इतना करने पर भी समय आने पर वह पतित हो जाता है और त्याग मार्ग से विमुख हो जाता है। उसका एक मात्र कारण यही है कि उसने द्रव्य त्याग तो किया था और द्रव्य से निवृत्ति ली थी, परन्तु भाव से निमित्त नहीं ली थी। उसके अन्तर में वासना विद्यमान थी। समय पाकर, निवृत्ति मिलने पर वासना की वह घास फिर पनप उठी।

सज्जनों ! हृदय में विषयों की उत्तेजना उत्पन्न करने वाले निमित्त तो तैयार ही हैं। उन्हें ढू ढने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। ये काटे तो पद-पद पर विद्यमान ही हैं। हाँ, फूल कहीं-कहीं ही होते हैं। इसी प्रकार भाव चरित्र रूपी फूल, जो जीवन को सुगन्धित करने वाले हैं खोजने पर भी क्वचित् ही मिलते हैं।

जव हम भीनासर सम्मेलन के लिए जा रहे थे तो रास्ते में काँटे हीं काँटे विखरे मिलते थे। नागौर तक तो रास्ता कुछ ठीक था, किन्तु गोगोलाव से वीकानेर का जव रास्ता शुरू होता है वहा काटों और भरुटों की इतनी अधिकता थी कि कहा नहीं जा सकता। कपड़ों में लग जाए तो निकलना कठिन था। लेकिन सोचना तो यह है कि किस माली ने उन्हें पैदा किया ? किसने पानी पिला-पिला कर उनका पोषण किया ? किसी ने भी नहीं। वे स्वय तैयार हो जाते हैं और पथिकों को अपनी जाति का परिचय देते हैं। इसी प्रकार वासनाओं को भड़काने वाले पदार्थ कदम कदम पर विछे पड़े हैं। साधक को उन्हीं से वचना है। जव तक वासना पूरी तरह मर न जाय तव तक ऐसे उत्तेजक पदार्थों से वचते रहना आवश्यक है। अन्यथा किसी भी समय गिर जाना सभव है।

आशय यह है कि द्रव्यत्याग ऊपरी त्याग है और वह कभी भी निमित्त पाकर गिर सकता है। ध्वजा स्थिर है तो इसका कारण यही है कि अभी हवा नहीं चल रही है। हवा का झौंका आते ही वह डावाडोल हो जायगी। इसी प्रकार जो तपोधनी गुफा मे जाकर वैठा है, वह तभी तक शान्ति से वैठा है, जव तक मोह का उदय नहीं आया है। जव वह हवा चलेगी तो विकारमय भाव जागृत हो जाएगे और उस त्यागी को डिगा देंगे।

रथनेमि का वृतान्त आपको विदित ही है। उन्होंने एक से एक उत्तम, सुन्दरी आज्ञा कारिणी और हृदय हारिणी पचास रमणियों को परित्याग कर दीक्षा अगीकार की थी। समस्त राजसी वैभव और भोगविलास के साधनों को

तिलाजलि दे दी थी और गुफा में जाकर घुस गये थे। यद्यपि आखें वद की जा सकती हैं कानों में उगलिया डाली जा सकती हैं, मगर अन्दर जो गर्रगट-गर्रगट हो रही है, वह कदापि बलात्कार पूवर्क वद होने वाली नहीं है।

तो रथनेमि ने अन्य इन्द्रियों को तो वश में कर लिया, वह द्रव्य से त्यागी हो गये, किन्तु मन से पूर्ण रूप से त्यागी नहीं हुए। भावत्यागी नहीं वन सके, अपनी वासना की जड़ उखाड़ने में समर्थ नहीं हो सके।

एक वार ऐसा अवसर आ गया कि गिरनार पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ विचर रहे थे। वे राजीमती को अविवाहित छोड़ कर त्यागी हो गये थे। राजीमती जी भगवान् के दर्शनार्थ जा रही थीं। रास्ते में वर्षा होने लगी और उनके वस्त्र गीले हो गये। गुफा को एकान्त स्थान समझ कर अकस्मात् वे उसी गुफा में जा पहुंची, जिसमें रथनेमि ध्यान कर रहे थे। रथनेमि की दृष्टि राजीमती पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही राजीमती का लावण्य और अनुपम सौन्दर्य उनकी आखों के सामने साकार हो उठा। वह त्याग रूपी हाथी से नीचे गिर पड़े। और राजीमती से वोले—

एहिता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।
भुत्तभोगी तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो ॥

—उत्तरा० अ० २८, गा० ३८।

सज्जनो! रथनेमि के मुख से उक्त प्रतिध्वनि अकस्मात ही निकल पड़ी। यद्यपि वे ५० रूपवती स्त्रियों को त्याग कर साधु वने थे, किन्तु थे अभी तक द्रव्यत्यागी। अत उनका मन विचलित हो गया। विकारों की जड़ वासना चित्त में विद्यमान थी, वह उभर आई और उसने उन्हे विचलित कर दिया। वे राजीमती को सवोधन करके वोले हे सुन्दरागी। आओ, हमारे साथ भोग भोगो क्योंकि मनुष्य का जन्म मिलना वहुत मुश्किल है।

सज्जनो! कहिए कैसा अच्छा उपदेश दिया उस त्यागी ने जो ससार के सुखों को छोड़ कर गुफा में ध्यान लगाये खड़ा है। वह कहता है—यह जीवन

वार-वार नहीं मिलता है, इसलिए भोग भोग कर इसे सफल वना लें। किस आदर्श को और किस भावना को लेकर निकले थे, किन्तु निमित्त मिलते ही भोगस्पृहा की अग्नि ने उन की आत्मा को दग्ध कर दिया।

रथनेमि कहते हैं—सुन्दरी, हम लोग भुक्तभोगी हो कर फिर जिनेन्द्रमार्ग को अगीकार कर लेंगे।

ऐ रथनेमि। फिर अगीकार कर लोगे तो अगीकार किये को क्यों छोड़ रहे हो? फिर अंगीकार करना तो भविष्य की वात है। कौन कह सकता है कि वह शुभ घड़ी प्राप्त होगी अथवा नहीं! जीवन तो क्षणभगुर है। किसी भी समय वह समाप्त हो सकता है। मनुष्य को तो एक-एक श्वास की कीमत करनी चाहिए। कहा है—

सांस सास पर राम रट, वृथा सांस मत खो।
ना जाने फिर सास का आना हो कि न हो॥

लोग कहते हैं कि संसार के भोग भोगकर त्यागवृत्ति ग्रहण करेंगे, पर उन्हें पता नहीं कि कालचन्द्र जी वीच ही में आ धमके तो टिकिट कट जायगा और मन के तमाम मसूवे मिट्टी में मिल जाएगे।

रथनेमि जी पचास सुन्दरियां को छोड़ कर आये हैं और एक पर मर रहे हैं। वास्तव मे इस मन की गति वड़ी अद्भुत है। किसी ने ठीक ही कहा है .—

मन लोभी मन लालची, मन कपटी मन चोर।
मन के मते न चालिये, मन पल-पल मे और॥

यह मन पल में भोगी, पल में योगी, क्षण में चोर, क्षण में साहूकार वन जाता है। यह गिरगिट की तरह रग वदलता ही रहता है। इसकी गति वायु से भी तीव्र है। आज के वायुयानों की गति तो इसके सामने वहुत धीमी है—नगण्य है। इसी कारण शास्त्र में मन को वशीभूत करने पर वहुत जोर दिया

है और बतलाया है कि मन ही बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है, अतएव इसे पूरा प्रयत्न करके अपने काबू में करो।

शास्त्र कहता है—ऐ साधु! जिन पदार्थों का तूने त्याग कर दिया है, उनकी मन से भी इच्छा मत कर। पानी को दूर ही से रोक दोगे तो वह गाव में नहीं आयगा। मगर जो बात मन में आएगी, वह वचन में भी आ जाएगी और फिर काम में भी आ जाएगी।

रथनेमि के चित्त में भाव त्याग नहीं आया था, अतएव मोहोदय होते ही मन में विकार आया। मन में विकार आया तो वचन में भी आ गया।

रथनेमि के वचन सुनकर राजीमती की दृष्टि भी उन ध्यानस्थ मुनि की ओर गई। वह पहचान गई कि यह तो रथनेमि जी हैं। वह घबराने लगी। उन्होंने तो सोचा था कि यह निर्जन स्थान है, अत यहा वस्त्र सुखा लेना चाहिए, किन्तु सयोग की बात है कि वहा भी एक कामान्ध पुरुष अपना जाल बिछाये तैयार है।

राजीमती विचार करती हैं—भले ही एकान्त स्थान है, किन्तु रथनेमि जाति-सम्पन्न हैं और कुल-सम्पन्न हैं, अतएव इन्हें सही रास्ते पर लाने में विलम्ब नहीं लगेगा।

सज्जनो! वह राजीमती थी बालब्रह्मचारिणी, महायोगनिष्ठ सती थी, साध्वी थी। कोई कच्ची अबला होती तो ऐसी परिस्थिति में आप भी डूबती और दूसरे को भी डुबाती। मगर राजीमती वह चट्टान थी जो प्रलयकालीन तूफान से भी नहीं हिल सकती थी।

राजीमती सोचती है—यह तो भगवान् अरिष्टनेमि के कुलीन भ्राता हैं, अतएव इन्हें पुन सयमारूढ करने में इतनी कठिनाई नहीं होगी, जितनी किसी जातिहीन, कुलहीन और कुसस्कारी पुरुष को सुधारने में होती है। मोह

महावलशाली शत्रु है और यह उसी के फंदे में फंस गये हैं, अपने चरित्र को भूल गये हैं। मगर सही राह पर आ जाएंगे।

सज्जनो। जो पुरुष कुलहीन होता है, उसका ठिकाने आना, सत्पथ पर आरूढ़ होना कठिन होता है। इसी कारण जातिवान् और कुलवान् की शास्त्र में प्रशंसा की गई है। खानदान का कुछ न कुछ असर होता ही है। कुलीन जनों में लज्जा होती है। वे जल्दी समझ जाते हैं। वे ऐसे नहीं होते कि किसी ने वैल से कहा—तुझे चोर ले जाय। तव वैल वोला—'यारों को तो घास ही खाना है, चाहे चोर ले जाय चाहे साहूकार ले जाय।' ऐसी मनोवृत्ति वाले पर शिक्षा का असर नहीं होता।

हां तो राजीमती ने सोचा—आज इनका अब तक का साधुपन नष्ट हो गया। किन्तु मैं इन्हें जागृत करूंगी, इनकी मोहनिद्रा भंग करूंगी। तव वह वोली—

जइ सि रूवेण वेसमणो, ललिएण णल कुब्बरो।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो॥

हे रथनेमि। मांस के पुतले। हाड़-मांस के गट्ठर! तुम मुझे अपने धर्म से विचलित नहीं कर सकते।

इस प्रकार सती ने सिंहनी के समान ललकारा। जव शेरनी दहाड़ती है तो सियारों से पूंछ दवाकर भागते ही वनता है। भले ही सियार पुल्लिंग में और शेरनी स्त्रीलिंग में है। मगर इससे क्या हुआ। सियार को पुरुष का और सिंहनी को स्त्री का जामा मिल गया तो क्या हो गया? एक सिंहनी के सामने हजार सियार मिलकर भी आने का साहस नहीं कर सकते।

उच्चकुल में पैदा होने वाला पुरुष हो तो क्या और उसी कुल की स्त्री हो तो क्या, दोनों ने दूध तो एक ही माता का पिया है। उस जाति और कुल का प्रभाव दोनों पर समान रूप से पड़ता है।

कहना पडेगा कि उधर रथनेमि भी सिंह थे यादव कुल में पैदा होने वाले। मगर मोहनीय कर्म के उदय ने उन्हें त्याग के उच्च सिंहासन से गिरा दिया था। मोह के कारण ही वह सियार बन गये थे।

तो राजीमती ने गर्जना की, ललकार बतलाई कि साक्षात् वैश्रवण, नल-कुबेर या शक्रेन्द्र भी क्यों न आ जाएं, मुझे चलायमान नहीं कर सकते। मुझे अपने सत्पथ से रंच मात्र भी नहीं डिगा सकते। उनकी तुलना में तुम क्या चीज़ हो ? रथनेमि! तुम्हें धिक्कार है। अरे, तुम हाथी की सवारी छोड़ कर गधे पर आरूढ़ होना चाहते हो ? रत्न-कंबल को त्याग कर टाट को धारण करना चाहते हो ? गंगाजल को छोड़ कर गटर के गंदे पानी में स्नान करना चाहते हो ? कितनी लज्जा की बात है। यही हाल रहा तो तुम्हारी क्या दशा होगी ? वही दशा होगी जो गुवाल की होती है। वह गुवाल दिन में कहता है—मेरी गाय, मेरी भैंस। मगर शाम को जब सब गायें और भैंसें अपने अपने मालिक के घर चलीं जाती हैं तो उसके पास केवल एक लाठी ही रह जाती है। सो हे साधु! चारित्र धर्म तो तुम्हारा चला गया है, केवल वेष के रूप में, बाने के रूप में यह लकड़ी तुम्हारे हाथ में रह गई है। तुम्हारा संयम का खजाना तो लुट गया, कोरी तिजोरी मात्र रह गई है। अब इसके सिवाय तुम्हारे पल्ले कुछ भी नहीं है।

स्त्रियां अबला नहीं, सबला हैं, प्रबला हैं, मानव समाज की शक्ति हैं। जो लोग उन्हें अबला कह कर स्त्री जाति के उत्साह और शौर्य को भंग करते हैं, उन्हें इतिहास की ओर ध्यान देना चाहिए। पूर्वकालीन सतियों ने, देवियों ने जो कुछ भी करना चाहा, अपने सतीत्व की सर्वोत्तम शक्ति से अनायास ही कर लिया। कई चरित्रभ्रष्ट एवं दिवालिया बनने को उद्यत पुरुषों को गिरने से बचा लिया। प्राचीन इतिहास में इस प्रकार की अनेक घटनाएं सुवर्ण-वर्णों में वर्णित हैं, जिनसे महिला जाति की अपूर्व तेजस्विता और अद्भुत वीरता का परिचय मिलता है।

—

राजीमती की स्पष्ट एवं कठोर फटकार पाकर रथनेमि की मूर्छा दूर हुई। उन्हें सज्ञा आई। उन्होंने अपने आपको पहचाना और कछुए की तरह पुन अपने मन, वचन और काय को गोपन कर लिया—वशीभूत कर लिया। जैसे मदोन्मत्त हाथी बिगड़ जाता है तो बन्धनहीन होकर इधर-उधर फिरता है। तब महावत अकुश के द्वारा उसे वश में करता है। इसी प्रकार रथनेमि रूपी मोहमत्त हाथी को ज्ञान का अकुश लगाकर राजीमती रूपी महावत ने वशीभूत कर लिया। आखिर रथनेमि पुन अपनी साधना में तल्लीन हो गये और भावत्यागी बन गये। अन्त मे उन्होंने केवल दर्शन और केवल ज्ञान प्राप्त किया और समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया।

राजीमती ने अपना कल्याण तो किया ही, रथनेमि का भी कल्याण कर दिया। अगर वे अपने धर्म पर दृढ़ न रहतीं तो दोनों का ही अकल्याण निश्चित था।

तो मैं कहने जा रहा था कि द्रव्यनिवृत्ति हमने एक बार नहीं, अनन्त बार अपना ली है। मगर भावनिवृत्ति के अभाव में उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। जब तक अन्तर्निवृत्ति नहीं उत्पन्न होती, तब तक काम चलने वाला भी नहीं है। आप भवन त्याग कर उपवन में चले जाइए अथवा वन में, काय-क्लेश सहन कीजिये अथवा कोई भी कठोर तपश्चर्या कीजिये, जब तक आपने कामना का अतिक्रमण नहीं किया, लालसा का अन्त नहीं किया और वासना का उन्मूलन नहीं किया, आप सच्चे त्यागी—भावनिवृत्तिमान् नहीं कहला सकते और आपके दुःखो का अन्त नहीं आ सकता। कामना को जीतना ही दुःखो को जीतना है। जब तक आपका अन्त करण कामनाओं से आकुल है, आप तृप्ति के आनन्द से वचित हैं और दुखी हैं।

भगवान ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—

कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

हे साधक ! संसार का समस्त दुख कामनाओं की बदौलत ही है । तू कामनाओं को जीत ले तो समझ लेना कि तूने दुःखों को जीत लिया ।

एक आचार्य ने कहा है—

समत्वं भज भूतेषु, निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मन शल्यं, भावशुद्धिं समाश्रय ॥

अर्थात्—अगर तेरे अन्त करण में परमात्मदशा प्रकट करने का सकल्प जागा है, तो तू तीन काम कर । पहला यह कि प्राणी मात्र के प्रति समभाव धारण कर । दूसरा यह कि जगत् के किसी भी पदार्थ के प्रति ममता न रख और ऐसा विचार कर कि मेरा कोई नहीं है और मैं किसी का नहीं हूं । तीसरी बात यह है कि छल-कपट, मिथ्यात्व और भोग कामना को त्याग कर भावशुद्धि भावनिवृत्ति को धारण कर ।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक हृदय में मिथ्यात्वशल्य बना हुआ है, तब तक भावनिवृत्ति नहीं आ सकती । उसे प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन को पहले प्राप्त करना पड़ता है । सम्यग्दर्शनपूर्वक जब भावचारित्र आ जाता है, तब साधक चाहे घर में बैठा रहे और चाहे तपोवन मे चला जाय, कहीं भी उसका कल्याण हो सकता है । इसके विपरीत, जिसमें मिथ्यात्त्व का सद्भाव है, जो आसक्ति का परित्याग नहीं कर सका है, उसके लिए तपोवन भी नाटक घर के समान है । अतएव शास्त्रकार भावनिवृत्ति को ही प्रधानता देते हैं ।

सम्यग्दर्शन के बिना जितनी भी क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब द्रव्य क्रियाएं हैं । किसी ने पदार्थों को त्याग दिया, धन को और घर को भी छोड़ दिया और फिर वह पंचाग्नितप करने लगा, या सूर्य की प्रचण्ड धूप में ऊर्ध्व-बाहु होकर आतापना लेने लगा । यह सब करने पर भी यदि वह मिथ्यादृष्टि है, उसकी श्रद्धा अशुद्ध है, हिंसा में धर्म समझता है, अन्तःशुद्धि प्राप्त नहीं कर सका है, तो मोक्ष नहीं पा सकता । जब चोर उसके भीतर घुसा है तो बाहर का त्याग वचना मात्र है । मिथ्यादृष्टि का जप तप, काय-क्लेश और दूसरा अनु-

ष्ठान मुर्दे के शृंगार के समान है। उसका चारित्र प्राणहीन है। शोभाहीन है। निरर्थक है।

अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र का आध्यात्मिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, अतएव जो कर्मों को जीतना चाहते हैं, कर्मों पर पूर्ण विजय प्राप्त करना चाहते हैं और अपनी विजय वैजयन्ती फहराना चाहते हैं, उन्हें सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जिन्हें सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, उनका ज्ञान समीचीन बन जाता है और संयम सफल हो जाता है। उसकी साधना और आराधना मुक्ति का कारण होती है।

तप कर्म निर्जरा का प्रधान कारण है। मगर सम्यग्दर्शन के अभाव में वह भी निष्फल हो जाता है। चातुर्मास काल में मैं जोधपुर (सिंहपोल) में था। उसके सामने एक मंदिर मार्गी भाई के घर में किसी बाई ने तपस्या की थी स्त्रिया वहा इकट्ठी होकर गाती थीं—

अन्न मिलसी धन मिलसी,
सुरपुर को राज मिलसी,
उठो बहू जी ए करो नी अठाइये ॥

अरी तुम किस लिए अठाई करती हो, बहनों! क्या अन्न, धन, पुत्र, राज्य और स्वर्ग के भोग प्राप्त करने के लिए? यह सब तो तुम्हें अनन्त बार प्राप्त हो चुके हैं। इनसे क्या कल्याण हो सका? तपस्या तो केवल कर्मनिर्जरा के लिए ही करनी चाहिए। मगर यह लक्ष्य शुद्धि भी तभी होती है जब सम्यक्त्व हो।

भद्र पुरुषो, मनुष्य अनेक वस्त्र पहनता है धोती, कुर्त्ता, पगड़ी आदि। किन्तु इन सब में अधिक आवश्यकता धोती की है। कोई मनुष्य और सब कपडे तो पहन ले, किन्तु धोती न पहने और नगा ही रहे तो दूसरे लोग उसे पागल समझेंगे उसकी हसी उड़ाएगे। तो जैसे धोती के बिना सब कपडे और आभूषण व्यर्थ हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना सब क्रियाए नगी हैं बेकार हैं, ज्ञानी जनों की दृष्टि में उपहसनीय हैं। अतएव सब से पहले सम्यक्त्व

प्राप्त करना चाहिए। दूसरे कपड़ों के विना तो फिर भी काम चल सकता है, किन्तु समकित रूपी लगोट या धोती न होगी तो जगत् में हसाई होगी।

प्रश्न हो सकता है कि सम्यक्त्व यदि सर्वप्रथम आराधनीय है और उसके अभाव में दुष्कर से दुष्कर तप एव कठोर से कठोर देहदमन आदि सव अनुष्ठान निष्फल हैं, तो सम्यक्त्व की प्राप्ति किस प्रकार करना चाहिये ? इस का सक्षिप्त उत्तर यही है कि सम्यक्त्व किसी भी भाव पर वाजार से खरीदा नहीं जा सकता। वह किसी खेत में भी नहीं उगता और न पेड़ पर लगता है। वह कहीं वाहार से नहीं लाया जाता। वह तो आत्मा की ही निधि है, आत्मा का ही स्वरूप है और आत्मा की ही एक शुद्ध परिणति है। आत्मा में आज जो अशुद्ध श्रद्धा है, उसे शुद्ध मार्ग पर लगा देने से सच्चे देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धान करने से, वीतराग-प्ररूपित तत्त्वों पर नि शक श्रद्धा रखने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। और भी सक्षेप में कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि मिथ्यात्व का त्याग करने से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। मिथ्यात्व ने ही सम्यक्त्व को आच्छादित कर रक्खा है। उसके हटते ही सम्यक्त्व का स्वत आविर्भाव हो जाता है।

सम्यक्त्व का अन्तरग कारण तो दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम या उपशम होना है, परन्तु वहिरग कारण अनेक होते हैं। उनमें से एक कारण उपदेश भी है। महापुरुषों की सत्संगति करके उनका उपदेश सुनने से, शास्त्र का श्रवण करने से सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है। मगर इसमें शर्त यही है कि सुनने और सुनाने वालों में पर्याप्त योग्यता होनी चाहिए।

सुनाने वाला वक्ता ऐसे शब्द सुनावे, जिससे समकित प्राप्त हो जाय। मगर आज ऐसे सुनने वाले और सुनाने वाले—दोनों ही थोड़े हैं। समकित की वातों में विरले ही रस लेते हैं। राजा-रानी की कहानी में मजा मानने वाले वहुत हैं। परन्तु सम्यक्त्व प्रदाता वाणी सुनने और सुनाने के लिए फौलाद का दिल चाहिए। सम्यक्त्व का यह कुश्ता फौलाद का दिल वने विना पच नहीं

सकता। इसके लिए संत पुरुषो की सगति करनी चाहिए। और उनके ज्ञान तथा अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। इस प्रकार निरन्तर करते रहने से सहज भाव से सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है।

पारस पत्थर को खोजने वाले लोग बकरी के पैरों में लोहे के नाल लगा देते हैं और बकरी को पहाड़ों में घुमाते हैं। वे स्वय बकरी के पीछे-पीछे चलते हैं और उसके पैरों को बार-बार देखते रहते हैं। जिस जगह पैर रखने से बकरी के पैर के नाल पीले-पीले दिखाई दें, मालिक झट समझ जाता है कि पारस पत्थर यहीं पर है। वह उसे ढूँढ कर प्राप्त कर लेता है और मालामाल हो जाता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए भी आपको साधना के दुर्गम पहाड़ों में घूमना होगा, चलना पडेगा, और सावधानी के साथ चल कर उस नाल को देखते रहना होगा। तब कभी न कभी वह समय आ सकता है कि आपको पारस से भी अधिक मूल्यवान् सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाय। अगर आपने विचार किया कि—दो दिन हो गये, चार दिन हो गये भटकते-भटकते, मगर पारस अभी तक नहीं मिला, तो काम नहीं बनेगा। हाँ, आपका पुण्य प्रबल हुआ तो कदाचित् पारस जल्दी भी मिल सकता है। फिर भी उसके लिए सतत प्रयत्नशील तो रहना ही होगा। कर्मों ने आत्मा पर अनन्त काल से अधिकार जमा रक्खा है और आत्मा के स्वभाव को विकृत और मलीन बना दिया है। उस साम्राज्य को नष्ट करके आत्मा में निर्मलता का प्रादुर्भाव करने में समय भी लगेगा, साधना की भी आवश्यकता होगी। घबराने और बेकरार होने से काम नहीं चल सकेगा। अतएव आपके हित का सुगम और उत्तम मार्ग यही है कि आप सत जनों की सगति करें। इससे आपको बहुत लाभ होगा। संगति के प्रभाव से बड़े-बडे पापी पुण्यशील बन गये और मिथ्या दृष्टि, सम्यग्दृष्टि बन गये और तिर गये हैं। त्यागी महात्मा ही ससार के प्राणियो

का उद्धार कर सकते हैं। शास्त्र में साधु जीवन का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। जैसे कि—

एक गाव में मुनि महाराज पधारे। वे गाव से बाहर उद्यान में विराजे। उनके साथ अनेक मुनि थे। वे भिन्न-भिन्न रुचि वाले थे। कोई रस परित्यागी कोई तपस्वी, कोई श्रुत सम्पन्न, कोई वैयावृत्य परायण थे।

कहीं दस मुनि बैठे हुए स्वाध्याय कर रहे हैं, कहीं प्रश्नोत्तर हो रहे हैं, कहीं शास्त्र का पठन चल रहा है और कहीं कोई ध्यान में लीन है इस प्रकार वह मुनिमण्डल धर्माराधना में समय व्यतीत कर रहा है।

शास्त्रों में साधुओं के किसी भी ग्राम अथवा नगर में पहुंचने का वर्णन आया है, तो उसके साथ उनके जीवन का निदर्शक यह सूत्र भी आता है— 'संजमेण तव-सा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।' अर्थात् साधु जन संयम रूप जप, तप, स्वाध्याय आदि में लीन होकर कालयापन किया करते थे।

मगर आज क्या होता है? आज ज्ञान-ध्यान के बदले इधर-उधर की गप्पें चलती हैं। विकथाए होती हैं और इन्हीं बातों में अधिकाश समय नष्ट किया जाता है। यह पतित और चारित्रभ्रष्ट बनाने वाली बातें हैं। अगर साधु ज्ञान ध्यान में ही मगन रहे और उससे उसे अवकाश ही न मिले तो गप्पें कब मारेंगे? जो निकम्मे होते हैं उन्हीं को व्यर्थ बोलना गप्पें हॉकना सूझता है। जो निरन्तर अपने कर्त्तव्य में लगे रहते हैं, उन्हें विकथा या व्यर्थ बातचीत करने की फुर्सत ही नहीं मिलती। कर्त्तव्य-परायण पुरुष निरर्थक वार्त्तालाप में अपना मूल्यवान् समय नष्ट नहीं करता। मुनियों को भी, अपने आपको संभालने के लिए अवलम्बन की आवश्यकता है और वह अवलम्बन ज्ञान है। ज्ञान के सहारे ज्ञानार्जन में व्यस्त रह कर साधु अपने संयम को सहज ही सभाल सकता है।

जब आप का लड़का आवारा होकर इधर-उधर भटकने लगता है, तब आप सोचते हैं कि इसे किसी दुकान पर बिठला देना चाहिए, ताकि यह खराब सोहबत से बच जाय। किन्तु जिसके सामने कोई लक्ष्य नहीं, ध्येय नहीं होता, वे यों ही भटकते रहते हैं। लक्ष्यशून्य और ध्येय-विहीन जीवन अपने और दूसरों के पतन का कारण बनता है।

इस प्रकार निरर्थक भटकना धर्म और राज नीति संगत भी नहीं है। कानून भी उसका विरोध करता है। ताजीरात हिन्द में ऐसा विधान है कि जिसके कोई घर नहीं, दर नहीं और जो उचक्कों की तरह यों ही घूमता फिरता दिखाई दे, पुलिस को अधिकार है कि वह उसे गिरफ्तार करके हिरासत में ले ले। जो बिना काम-काज निकम्मा घूमता फिरता है उस पर यह शक होता है कि यह कहीं चोरी न कर ले, किसी की बहू-बेटी का धर्म न बिगाड़ दे। तो ऐसे निकम्मे लोगों को नियंत्रित करने के लिए सरकार ने भी हिदायत की है। ऐसी स्थिति में संयम को अंगीकार करके भी जो निकम्मा भटकता हो, व्यर्थ की गप्पें हाँकता हो और आवारा हो, उसे दंड मिलना तो स्वाभाविक ही है। अतएव ऐ साधु ! यदि तू अपने कर्त्तव्य पर आरूढ नहीं रहता और गृहस्थ के कपड़े फाड़ रहा है और उसकी रोटियाँ बिगाड़ रहा है और साधुता की तरफ तेरा लक्ष्य नहीं है, तो समझ ले कि ये सब चीजें तुझे बहुत महगी पड़ेंगी। कहा है—

देणी ये बणसी कत्तारिए, लेणिए बनसी ऊंट
दिया लियाइपाछा लेंहिंगे, दे दे नाक मे टूंच ॥

साधक ! भली-भाति समझ ले कि गृहस्थ के यह टुकडे-पचाना बहुत कठिन है। सच्चा साधु तो वही है जो लेता कम और देता ज्यादा है। अगर साधु ज्ञान, ध्यान और समकित आदि देते हैं तो गृहस्थ उन्हें भोजन और वस्त्र देकर भी अपना कर्ज नहीं चुका सकता। कर्ज तब चुकेगा जब गृहस्थ उन पर श्रद्धा रखेगा और उनकी आज्ञा का पालन करेगा। मगर देखते हैं कि आज रोटी-कपडा देने वालों की तो कमी नहीं है, मगर गुरु वचनों पर श्रद्धा करने वाले और तदनुसार चलते बहुत थोडे हैं।

हा तो वह मुनिमण्डल उद्यान में ठहरा है। ज्ञान-ध्यान हो रहा है और जिन वाणी का उद्योत हो रहा है। मुनि जन जिन शासन की पताका लहरा रहे हैं। लोग टोले बना कर, अपने-अपने गच्छ बना कर, उपदेश सुनने जा रहे हैं।

मगर आज इस विषय में भी निराली बात है। लोग सिनेमा देखने तो बडे उत्साह के साथ चले जाते हैं, मगर मुनि दर्शन को नहीं आएगे। कहा है—

साधु आया जान के, आदर दिया न कोय।
कुछ ना बिगडा साधु का, हानि उसकी होय॥

अरे घर बैठे गगा आई, साधु आए और फिर भी जिसने गोता न लगाया तो समझ लो कि वह भाग्यहीन है। जो अवसर पाकर भी अपना पाप-मैल नहीं धोता, उससे अधिक-अभागा और कौन होगा? मगर भाग्यहीन जन अवसर का लाभ नहीं उठा सकते। जब दाखें पकती हैं, अगूर लगते हैं तो कौवे के कंठ में रोग हो जाता है। किन्तु जब निम्बोलिया पकती हैं तो वह खुशिया मना-मना कर उन्हें खाता है। वह ऐसी खुशी मनाता है जैसे लोग विवाह की खुशी मानते हैं। किन्तु उसके लिए तो निम्बोलिया ही चमन वाले अगूर हैं। आशय यह है कि वह बेचारा काक अभागा है, दुर्भागी है कि जब अगूर पकते हैं तो उसके कठ में रोग हो जाता है। इसी प्रकार जब जिन वाणी सुनने का अवसर मिलता है तो अभागा मनुष्य निन्दा और चुगली आदि में ही अपना समय नष्ट कर देता है। 'यह ऐसा है, वह वैसा है' इस प्रकार की पापजनक बातों में ही आनन्द मानता है। किन्तु बुद्धिमान मनुष्य वही कहलाता है जो अवसर से लाभ उठाता है और प्राप्त सुयोग को कभी हाथ से नहीं जाने देता।

हा, तो लोग झुड बना कर मुनियों के दर्शन करने चले। मुनि महाराज ने उपदेश दिया। अनेक श्रोताओं ने उससे लाभ उठाया। उसी समय एक

भक्त उठकर मुनि के पास गया। उसे धर्म के प्रति विशेष अभिरुचि थी। उसने कहा—गुरुदेव। मुझे गृहस्थ का धर्म बतलाइए, जिससे मेरा कल्याण हो सके। गुरुदेव ने उसे कई शिक्षाएं दीं और अन्त में कहा—भाई एक नियम तो कर ही लो।

भक्त ने विनय पूर्वक कहा—आज्ञा दीजिए, भगवन। मैं अवश्य नियम ले लूंगा।

गुरुजी बोले—तुम लौकी (घिया) की सब्जी का त्याग कर दो। कुछ तृष्णा कम करो।

भक्त ने सोचा—दुनिया में खाने की वस्तुओं की कमी नहीं है। एक वस्तु का त्याग कर दिया तो क्या हर्ज है?

यह सोच कर भक्त ने लौकी खाने का त्याग कर दिया। वह लौट कर घर गया। अपनी पत्नी से कहा—आज गुरुजी का उपदेश सुनकर मैं ने लौकी खाना छोड़ दिया है। आगे से कभी मेरे लिए लौकी मत बनाना।

सज्जनों। यह सुनने की देर थी कि वह जगदम्बा (सेठानी) एकदम भड़क उठी। कहने लगी—आपने ऐसा त्याग किया ही क्यों? आज लौकी का त्याग किया तो कल मेरा भी त्याग कर दोगे। याद रखिए आज से साधुओं के पास जाने की जरूरत नहीं है।

भक्त ने कहा—अब क्या हो सकता है? नियम तो ले लिया सो ले लिया। उसे भंग नहीं किया जा सकता।

तब स्त्री बोली—आपको यह भी ख्याल नहीं कि बच्चों का घर है। जब उनके लिए लौकी का शाक बनाऊंगी और आप नहीं खाएंगे तो आपके लिए अलग हंडिया चढ़ानी होगी। लेकिन मुझ से यह नहीं होगा।

वह वैमाता बड़ी प्रचण्ड थी। उल्टी खोपड़ी की थी। अत उसने अपनी ज़िद पूरी करने के लिए थाली परोस ही दी। संयोग वश उस दिन लौकी का

ही शाक बना था। सेठ जी मना करते ही रहे—अरी, यह क्या करती है। मेरे तो त्याग है। आज ही त्याग किया है और आज ही कैसे भंग कर दू। मगर सेठानी ने एक न सुनी। उसने कहा—नहीं, लोकी तो खानी ही पड़ेगी।

सेठानी बड़ी चालाक थी। उसने गुड़ शक्कर वगैरह की आलमारी में ताला जड़ दिया, ताकि दूसरी चीज न मिलने पर सेठ जी को लौकी का शाक खाना ही पड़े।

सेठ जी बार-बार लौकी न खाने की बात कहते हैं, पर सेठानी भी बराबर अपने हठ पर डटी है। वह कहती है कुछ भी हो, लौकी तो खानी ही पडेगी। जब सेठ जी अपने नियम पर डटे ही रहे और लौकी खाने को तैयार न हुए तो कर्कशा सेठानी चूल्हे में से जलती लकड़ी उठा लाई और सेठ जी की पूजा उतारने की धमकी देने लगी। सेठ जी डरपोक थे, अत लकड़ी देखते ही भागे और सेठानी कहीं पीछा न करे, इस विचार से घर से बाहर निकल कर नदी के किनारे जा बैठे।

उस समय ग्रीष्म ऋतु थी। सेठजी को प्यास लगी। उन्होंने नदी का पानी पीया और किनार की रेत हटा कर खड्डा करके उसी में सो गये।

रात्रि हुई और सेठ को गहरी नींद आ गई। दैवयोग से उसी रात्रि में चार चोर चोरी करके वापिस लौटे। उनके पास चार धन की गंठरिया भी थीं। वे आकर वहीं नदी किनारे ठहरे। आपस में बात करने लगे कि ईश्वर की असीम कृपा से हम लोग सही सलामत आ गये और माल भी ले आये। अब हमें इसका बँटवारा कर लेना चाहिए।

तब उनमें से एक चोर ने कहा बँटवारा तो करना ही है। पहले साथ में पानी वाला जो नारियल है, उसे फोड लें और उसका पानी पी लें। यह प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत हो गया। नारियल फोड़ने के लिए पत्थर की आवश्यकता हुई। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। पर कहीं कोई पत्थर नजर न आया। अन्त में सब की दृष्टि उसी गड्ढे की ओर गई, जिसमें सेठजी सो रहे

थे। अंधेरे में उनकी काली-काली खोपड़ी काले पत्थर के समान दिखाई दे रही थी। एक चोर नारियल फोड़ने के लिए उसी ओर बढ़ा। उधर सेठजी को स्वप्न आ रहा था कि मेरी घर वाली लकड़ी लेकर पीछे पड़ रही है और कह रही है—खाएगा या नहीं खाएगा ? सेठानी का इतना कहना था कि सेठजी के मुंह से अचानक निकल पड़ा—खाऊं, खाऊं, खाऊं।

खाऊं-खाऊं की यह आवाज सुनकर चोर डर का मारा सिर से पैर तक कांप उठा। वह भाग कर अपने साथियों के पास आ गया और बोला-भूत है भूत और वह 'खाऊं खाऊं' कह रहा है। जान बचानी है तो भागो।

जानते हो कि संसार में धन सब को प्रिय है, मगर धन से भी अधिक प्राण प्रिय होते हैं। अपने प्राणों पर संकट आने पर लोग धन की पर्वाह नहीं करते। नीतिकार भी लोगों को यही उपदेश देते हैं—

आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि।

अर्थात्—चाहे स्त्री का त्याग करना पड़े और चाहे धन से हाथ धोना पड़े, मगर अपनी रक्षा सदैव करनी चाहिए।

तो चोर प्राणरक्षा के लिए धन की गठरिया रख कर भाग छूटे।

सज्जनों ! भाग्योदय होता है तो उल्टी बात भी सीधी हो जाती है। सवेरा हुआ और सेठजी की नींद खुली। सेठ की दृष्टि पास ही पड़ी गठरियों पर पड़ी। वह उनके पास गया और दो गठरिया उठा कर सीधा घर की ओर चल दिया। द्वार पर आया तो किवाड़ खटखटा कर बोला—दरवाजा जल्दी खोलो। सेठानी ने सेठ की चिरपरिचित कण्ठध्वनि पहचान ली और फिर कहा—खाओगे कि नहीं ?

सेठ शीघ्र से शीघ्र घर में प्रवेश करने को उत्कंठित था। अतएव उसने बिना विलम्ब किये कह दिया—'हां, हां, मगर खोलो तो सही।'

सेठानी ने द्वार खोला। सेठजी ने दोनों गठरिया उसके सामने पटक दीं। धन देख कर सेठानी की प्रसन्नता का पार न रहा। वह बोली 'प्रियतम, प्राणाधार कहा चले गये थे? चिन्ता के कारण मुझे तो रात भर नींद ही नहीं आई। आप कल के भूखे हैं। थोड़ा-सा बादाम का हलुवा अभी बनाये देती हूँ।'

कहिए, दुनिया कितनी स्वार्थी है। धन ले आये तो प्राणाधार हो गये प्रियतम होगए और कल उन्हीं प्राणाधार की जलती लकड़ी से खबर ली जा रही थी।

सेठानी पुन कहने लगी--पर यह भी तो कहो, यह गठरिया ले कहा से आये?

सेठ ने कहा—चुप रहो। अभी दो और लानी हैं।

सेठ वह दो शेष गठरिया भी उठा लाया। तत्पश्चात् उसने पत्नी से कहा—देखो यह सब गुरुजी के निकट ग्रहण किये नियम का प्रताप है। यह कह कर उसने अपने घर से निकलने, नदी की रेती में सोने, चोरों के आने और भागने आदि की कहानी कह सुनाई। सेठानी ने धन मिलने की कहानी सुनी तो कहने लगी इस बार मुझे भी गुरुजी के पास ले चलना। मैं भी नियम लूंगी। वह कहती है—

हाथ जोड कर बोली बाय सुन लो मेरे प्रियतम राय।
ऐसा सौगन नित नित करना, धन की गठरी घर मे धरना॥

सज्जनो! बाई जी को सौगन प्यारा नहीं, धन प्यारा है। तो जब तक इस प्रकार की मनोवृत्ति मनुष्य में विद्यमान है, सम्यक्त्व नहीं आता। लौकिक लाभ के लिए किया जाने वाला कृत्य पारमार्थिक फल प्रदान नहीं करता। अतएव जो धर्म किया करो आत्मिक लाभ के लिए कर्मों के क्षय के लिए आत्मा को अशुद्ध दशा से निकाल कर शुद्ध दशा में पहुँचाने के लिए करो। सम्यग्दृष्टि।

का यही कर्तव्य है। सम्यग्दृष्टि महान् फलप्रद धर्मक्रिया को तुच्छ लौकिक लाभ के बदले नहीं बेचता।

तात्पर्य यह है कि जब तक आत्मा में सम्यक्त्व का सूर्योदय नहीं होता, मिथ्यात्व का अंधकार व्याप्त है, तब तक सच्चा त्याग सम्यग् चारित्र नहीं प्राप्त हो सकता। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सद्गुरुओं की संगति करना चाहिए, उनके उपदेश को श्रवण करके आचरण में लाना चाहिए। इससे आत्मा कृतकृत्य हो जाती है। अतएव जो आत्माएं सम्यक्त्व प्राप्त करती हैं, संसार सागर से पार उतर जाती हैं।

ब्यावर
१७-८-५६

१०

आत्म-दर्शन

वीर सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिता.
वीरेणाभिहत स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोरं तपो
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचय हे वीर । भद्र दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिता
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्री सिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधका
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो ! अनादि काल से अब तक जो धर्म प्रवर्त्तक, धर्मप्रदर्शक अनन्त तीर्थंकर हुए हैं, आचार्य एवं सन्त महात्मा हुए हैं, उन सब का एक ही लक्ष्य रहा है। उनकी धारणा और विचारणा भी एक ही दिशा में चली है। वह धारणा क्या थी? वह यही थी कि ससारी जीव जगत् की विविध आधियों और व्याधियों से बाधित हो रहा है, जन्म-जरा-मरण की दुस्सह यातनाओं से पीड़ित हो रहा है, चतुर्गति के घोर अतिघोर दु खों की ज्वालाओं से दु.खी हो रहा है, सासारिक सतापों से झुलस रहा है, अनिष्ट-

संयोग और इष्टवियोग की पीड़ा से आहत हो रहा है, ममता, तृष्णा आदि के जाल में पड़ा हुआ छटपटा रहा है, तो इस जीव का उद्धार किस प्रकार हो ? इस विचार से प्रेरित होकर उन्होंने अपने विशुद्ध एव निर्मल ज्ञान के द्वारा विशात सुख के मार्ग का प्रदर्शन किया। उन्होंने परम कृपा पूर्वक जगत् के जीवों को चेतावनी दी कि –हे जीव, तू अपने मूल स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध है। अनन्त चैतन्यघन का स्वामी है, आकाश की तरह असीम और काल की तरह अक्षय अनन्त सुख तुझ में विद्यमान है। फिर भी जो तू रक बना है। दीन-हीन हो रहा है, दुःख का भाजन बन रहा है, उसका एक मात्र मूल कारण अपने सहज स्वरूप को न पहचानना ही है। तू अपने अनिर्वचनीय आत्मिक ऐश्वर्य को विस्तृत करके इतस्तत भटक रहा है। जब तक तू अपने आनन्दमय, विज्ञानमय स्वरूप को नहीं पहिचानेगा, अपने भीतर नहीं झांकेगा, तुझे शान्ति प्राप्त न होगी। सरोवर को छोड़कर मृग मरीचिका के पीछे दौड़ने वाले की प्यास कब शान्त हो सकती है ? शान्ति— अखण्ड और अनन्त शान्ति का स्थल आत्मा है। उसे तू जानता नहीं, पहचानता नहीं और शान्ति प्राप्त करने के लिए पर-पदार्थों के पीछे भाग रहा है। तो तुझे शान्ति कैसे मिलेगी ? सुख और शान्ति रूपी शीतल जल के लिए आत्मा सरोवर है और ससार के बाह्य पदार्थ मृगतृष्णा हैं। अभी तक तू सरोवर से दूर रहा और मृग तृष्णा के पीछे दौड़ता रहा है। पर वहा शान्ति-सुख था ही कहा कि तुझे मिल जाता ?

यह तो एक निश्चित सिद्धान्त है कि जो वस्तु जहा होती है, वहीं तो वह मिल सकती है। जहा उसका अभाव है, वहा हजारों वर्षों तक, हजारों यत्न करने पर भी, वह नहीं मिलेगी। जहा जिस वस्तु का अभाव है, वहा उसकी गवेषणा करना न बुद्धिमत्ता है और न विवेकशीलता।

प्रत्येक प्राणी शान्ति चाहता है और शान्ति की ही खोज में भटक रहा है। किसी को धन-दौलत मे शान्ति दृष्टि-गोचर होती है, किसी को पुत्र कलत्र

आदि में और किसी को सत्ता एव अधिकार आदि में। मगर ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि यही सब वस्तुए तो अशान्ति की जनक हैं। इन्हें पाकर भी किस ने शान्ति प्राप्त कर ली है? अतएव यही तथ्य सामने आता है कि शान्ति का स्थल और है और ढूँढ-खोज हो रही है कहीं और ही। ऐसी स्थिति में शान्ति की खोज करते-करते अन्त में अशान्ति ही यदि पल्ले पड़ती है तो आश्चर्य ही क्या है? ऐसा होना तो बल्कि स्वाभाविक ही है।

लोक में कहावत प्रसिद्ध है—'काख में छोरा और गाव में ढिंढोरा।' अरे, जब बगल में ही बालक है तो फिर गाव भर में क्यों पूछता फिरता है? सबसे पहले वह बोझ तो तुझे ही मालूम होना चाहिए।

आशय यह है कि प्रत्येक प्राणी जिसमें प्रवेश करने के लिए उत्कण्ठित और उतावला हो रहा है, वह अवक्तव्य, अतर्क्य और अचिन्त्य आनन्दमयी सृष्टि कहीं बाहर नहीं है। वह तो आत्मा में ही विद्यमान है। वह सृष्टि उसी को दृष्टिगोचर होती है, जिसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती है। जिसने अपनी दृष्टि बहिर्मुख बना ली है और बाह्य पदार्थों मे ही जिसने सुख की कल्पना कर ली है, वह यों ही मारा-मारा फिरेगा उसे आत्मिक सुख की अनुभूति न होगी। अतएव जिसे सुख की स्पृहा है और शान्ति की अभिलाषा है, उन्हें सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि सुख और शान्ति का महाकेन्द्र आत्मा ही है और तब आत्मा के ऊपर आये आवरणों का निराकरण करके आत्मा के शुद्ध सहज स्वभाव को प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जिसे बम्बई, कलकत्ता या दिल्ली पहुचना है, वह पहले अपना लक्ष्य स्थिर कर लेता है। यद्यपि पहुंचेगा वह वहा समय पर ही, मगर लक्ष्य तो वहां पहुंचने का निश्चित कर लिया है और लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में उसके कदम बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में देर या सवेर भले हो जाय, पर पहुचे तो जायगा ही, मगर जिसने अपना लक्ष्य ही स्थिर नहीं किया, जो यों ही बिना सोचे-समझे राम-भरोसे चल पड़ा है, वह कहा पहुंचेगा? उससे कोई पूछता है कि

कहा जा रहा हो ? वह कहेगा—मालूम नहीं । किस लिए जा रहे हो ? वह कहता है—मालूम नहीं, कौन हो ? उत्तर मिलता है—मालूम नहीं । इस प्रकार प्रत्येक प्रश्न पर नकरात्मक उत्तर देने वाले को दुनिया क्या समझेगी ? मूर्ख समझेगी या समझदार । लोग कहेंगे—अजीव उल्लू है । घर से निकल पड़ा है, मगर यह भी नहीं जानता कि कौन है, कहा जा रहा है और किस लिए जा रहा है ? आपके सामने ऐसा मनुष्य आ जाय तो आप उस पर हँस देंगे और वास्तव में वह हंसने योग्य ही है ।

सज्जनो । मगर यही प्रश्न मैं आप से पूछ लू कि कौन हो ? क्या कर रहे हो ? कहा जाओगे ? किस लिए जाना है ? तो आप क्या उत्तर देंगे ? अगर आप भी यही नहीं मालूम का उत्तर देंगे तो मैं आप को क्या समझू ? क्या फतवा दूं ? यही न कि आप उसके भी बडे भाई हैं ।

सज्जनो । दूसरों की वात पर हस लेना आसान है दूसरों का मजाक उड़ा देना भी कठिन नहीं है । मगर मनुष्य अपनी ओर ध्यान नहीं देता कि मैं स्वयं उसी मर्ज का शिकार हू । तो दूसरों पर हसने का उसे क्या अधिकार है ?

आज अधिकाश प्राणियो की यही हालत है । कि वे अपने आपको नहीं पहचानते । ऐसे जीव इच्छित ध्येय की प्राप्ति नहीं कर सकते । अतएव पहले अपने आपको समझो कि—मैं कौन हू ? क्या मैं काया हूं ? क्या मैं इन्द्रिय हूं ? नहीं, मैं न इन्द्रिय रूप हूं, न काया रूप हूँ, क्योंकि यह तो पौद्गलिक हैं । आत्मा, आत्मा है, पुद्गल नहीं है । पुद्गल में रूप-रस, गंध और स्पर्श होता है, आत्मा में चैतन्य, सुख, अमूर्त्तत्व आदि गुण हैं । आत्मा रूपातीत है । वह न काली है, न पीली है, न नीली है, न लाल है, न सफेद है । उसमें पाच वर्णों में से कोई वर्ण नहीं है । सुगन्ध भी नहीं है और दुर्गन्ध भी नहीं है । आत्मा खट्टी, मीठी, खारी, कसैली आदि रस वाली भी नहीं है । उसे भारी, हल्की आदि स्पर्शों से युक्त भी नहीं कह सकते । यदि कुछ कह सकते हैं तो 'अगुरुलघु' कह सकते हैं । गुरुत्व और लघुत्व धर्म सापेक्ष हैं ।

किसी वस्तु को गुरु अर्थात् भारी कहने का अर्थ यह है कि संसार में उससे हल्की भी कोई वस्तु है। और 'लघु' कहने का अभिप्राय यह है कि कोई उससे भी भारी वस्तु है। दोनों में से एक का अभाव हो तो दूसरे का भी अभाव हो जायगा। हम देखते हैं कि दुनिया में भारी वस्तुए भी हैं और हल्की भी हैं। किन्तु यह ऐसी वस्तुए पौद्‌गलिक ही हो सकती हैं। शीतलता और उष्णता भी पुद्‌गल के धर्म हैं। स्निग्धता और रूक्षता भी पुद्‌गल में ही पाई जाती है। आत्मा इन सब धर्मों से अतीत है।

सज्जनो! आठ स्पर्श पुदगल के गुण हैं और आठों हीं हमारे शरीर में पाये जाते हैं। शरीर में हल्की से हल्की यदि कोई वस्तु है तो वह वाल हैं। हो सकता है कि किसी के वाल हल्के हों और किसी के उनसे भारी, मगर फिर भी हल्की से हल्की चीज वाल है। शरीर में भारी से भारी वस्तु हड्डिया हैं। कानों की लौ और नाक की नली शीत है, कलेजा उष्ण है। कलेजा ठडा हो जाय तो सारा मामला खत्म हो जाय और झट चार जनों की जरूरत पड़ जाय। इसी प्रकार शरीर में खुरदरापन पैरों की एडी में है कोमलता तालु में है। आखें चिकनी हैं और जीभ रूखी है। जीभ को चाहे वादाम का हलुवा खिलाओ, चाहे दूसरे पदार्थ यह रूखी की रूखी ही रहती है। इस तरह शरीर में आठों स्पर्श विद्यमान हैं और इसे आठों स्पर्शों की आवश्यकता भी रहती है, इसे हल्की वस्तु वस्त्र चाहिए। इसे २६ की मलमल और मुलायम से मुलायम कपडे चाहिए। कई जगह वहिनें इतने वारीक वस्त्र पहनती हैं कि जिन से ठीक तरह उनका शरीराच्छादन नहीं होता और न लज्जाही सुरक्षित रहती है। जिस वस्त्र से शरीर का आच्छादन न हो और लज्जा की रक्षा न हो, उसे पहनने से लाभ ही क्या है? अति वारीक वस्त्र सर्दी और नग्नता से वचा नहीं सकते। गर्मी में महीन वस्त्र पहनने से लू लग जाने की सभावना रहती है। इसलिए कई लोग गर्मी में मोटे वस्त्र पहनते हैं, ताकि गर्मी के पुद्‌गल शरीर में प्रवेश न कर सकें और लू लगने से वचा जा सके। सर्दी में आम तौर से

मोटे वस्त्र पहने जाते हैं कि सर्दी से बचाव हो और निमोनिया होने की सभावना न रहे। अतएव अति वारीक वस्त्र कभी भी उपयोगी नहीं होते। फिर भी मन तो यही चाहता है कि बारीक से बारीक वस्त्र धारण किये जाए।

बहिनों से मेरा यह अनुरोध है कि तुम अति वारीक वस्त्रों से वचो, जिससे तुम्हारे ऊपर किसी की कुदृष्टि न पड़े और तुम्हारी भावना शुद्ध रहे। सादे और ठीक ठीक वस्त्र पहनने से हानि न होगी, लाभ अनेक प्रकार के हो सकते हैं।

अच्छा, इस शरीर को भारी चीज़ चाहिए आभूषण, यह जीव भारी-भारी आभूषण पहन कर प्रसन्न होता है। इसे भोजन चाहिए गरमा-गरम, चाहे ज्येष्ठ या आषाढ़ का महीना ही क्यों न हो। ठढा चाहिए पानी। कैसी भी सर्दी क्यों न पड़ती हो, पानी तो ठंडा ही पीने को चाहिए। लोग गर्मी में पानी को अधिक ठंडा करने के लिए वर्फ का प्रयोग करते हैं। लस्सी में भी वर्फ डालते हैं। मगर शायद वहुतों को मालूम नहीं कि बर्फ की तासीर गर्म होती है, खुश्क है। इसी कारण तपस्या की पारणा के समय उसे काम मे लिया जाय तो उससे हानि होती है। वर्फ आमाशय को अतड़ियों को जकड़ लेती है, अतएव कई वार वर्फ के सेवन से पारणा विगड़ जाने की वड़ी सभावना रहती है।

शरीर को चिकनी चीज चाहिए रवड़ी, घी, मक्खन मावा आदि और रूखी वस्तु चाहिए पापड़। नरम चाहिए बिस्तर वगैरा और खुरदरी चीज चाहिए भावा घिसना आदि। तो आठों स्पर्श शरीर में मौजूद हैं और आठों की शरीर को जरूरत है! हा, विभिन्न समयों और विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न वस्तुओं की आवश्यकता होती है परन्तु होती अवश्य है।

मैं आत्मा के विषय में कहने जा रहा था। जिसे यही पता नहीं कि मैं कौन हूं, वह दूसरे पदार्थों को क्या समझ सकेगा। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि मैं कौन हू का उत्तर यही है कि मै वर्ण गध, रस और स्पर्श रूप नहीं हू,

क्योंकि यह सब पुद्गल के धर्म हैं। मैं वर्णातीत, गंधातीत, रसातीत और स्पर्शातीत हूं। यानी मैं पांचों वर्णों से परे हूं, सुगंध और दुर्गन्ध से परे हूं, पांचों रसों से परे हूँ और आठ स्पर्शों से परे हूं। आत्मा में न गुरुता है और न लघुता है, वह अपने स्वरूप से अगुरुलघु है। कर्मों के सम्पर्क से उसमें गुरुता लघुता भले आती है फिर भी वह औपाधिक है, आत्मा का स्वरूप नहीं है।

यद्यपि कर्म भी पुद्गल ही हैं, चौस्पर्शी हैं और उन्हें भी अगुरु लघु कहा है किन्तु उनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। मगर आत्मा में इन सब में से कुछ भी नहीं है। तो अभिप्राय यह है कि मूढदृष्टि जीव यद्यपि अपने आप को शरीर या इन्द्रिय समझता है, पर वास्तव में आत्मा इनसे पृथक् है, निराला है। अतएव मनुष्य को समझना चाहिए कि मैं कौन हूं? उसे विश्वास होना चाहिए कि मैं चैतन्यमय हूँ मैं ज्ञानमय हूं, दर्शनमय हूं, उपयोगमय हूं। ज्ञान और दर्शन मेरा स्वरूप है, अनन्त ज्योति मेरा लक्षण है।

जीव का जो स्वाभाविक स्वरूप या लक्षण है, वह प्रत्येक जीव में, प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहता है। एकेन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक कोई जीव ऐसा नहीं, जिसमें ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग न हो। यद्यपि कर्मों के आवरण के कारण प्रत्येक जीव में उपयोग की विविधता या विचित्रता पाई जाती है और उसकी संख्या में भी अन्तर पड़ता है, फिर भी उपयोग से शून्य कोई जीव कदापि नहीं होता। जिस में उपयोग का अभाव है, उसे जीव ही नहीं कहा जा सकता। वह जड़ है, अचेतन है। अतएव प्रत्येक जीव में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की सत्ता रहती ही है।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक तरफ तो भगवान् का कथन है कि अनन्त जीव ऐसे हैं, जिनमें ज्ञान नहीं है और दूसरी तरफ यह भी कहा गया कि ऐसा कोई जीव ही नहीं, जिसमें ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग न हो। यह दोनो विधान परस्पर विरोधी क्यों नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दोनों ही विधान भगवान् के हैं । भगवान् के जितने भी वचन हैं वे सत्य हैं और संभव है कि वे कभी हमारी समझ में न आवें तथापि उनमें शंका के लिए कोई अवकाश नहीं है । भगवान् वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं । उनमें कषाय और अज्ञान नहीं रहता । यही दोनों कारण वचन की असत्यता उत्पन्न करते हैं । जब भगवान् में यह दोनों कारण नही हैं, तो उनके वचन भी असत्य नहीं हो सकते ।

शास्त्रों के शब्द गभीर आशय को लिए हुए होते हैं । जैसे कोई व्यावर का एक ही रास्ता जानता है और वह उसे छोड़ कर दूसरे रास्ते से चल पड़ता है तो भूलभुलैया में पड़ जाता है । उसे अपने निश्चित स्थान पर पहुचना कठिन हो जाता है । अतएव उसे सभी रास्ते जानने चाहिए । इसी प्रकार जैन धर्म की सप्त नय रूप सभी गलिया जानना जरूरी है । जैन धर्म का स्पष्ट और विशद ज्ञान होना चाहिए । थोड़ा-बहुत रट लेने से काम नहीं चलता ।

हा, तो मैं कह रहा था कि कोई जीव ऐसा नहीं जिसमें ज्ञान-दर्शन उपयोग न हो और उधर अनन्त जीव ऐसे हैं जिनमें ज्ञान नहीं है । इस कथन को परस्पर विरुद्ध वही समझेगा, जिसने जैन-वैन को अर्थात जिन वाणी को नहीं समझा है । जिन-वचन नयसापेक्ष होते हैं । विभिन्न नयों की अपेक्षा कथन किया जाता है, तभी सत्य सम्पूर्ण रूप में हमारी समझ में आता है । किसी भी एक नय का कथन अपूर्ण होता है ।

नय का अर्थ है दृष्टि या दृष्टिकोण । अनन्त धर्मात्मक पदार्थ के किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है । नय एक ही धर्म को ग्रहण करता है, किन्तु उस वस्तु में विद्यमान शेष अनन्त धर्मों का निषेध नहीं करता । तभी वह नय है । अगर एक धर्म का विधान करके शेष धर्मों का निषेध करने लग जाए तो वह दुर्नय, नयाभास अथवा मिथ्यानय हो जाता है । सच्चा नय तो वही है जो एक धर्म का विधान करता हुआ भी अन्य धर्मों की अपेक्षा रखता है ।

यहा धर्म का अर्थ आप की सामायिक या पौषध आदि क्रिया नहीं है। वस्तु स्वभाव को धर्म कहते हैं। 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् किसी भी जड़ या चेतन रूप वस्तु का स्वभाव धर्म है। यह धर्म जड़ में भी होता है और चेतन में भी होता है। धर्म अर्थात् स्वभाव के विना किसी वस्तु की सत्ता ही सभव नहीं। धत्ते-इति धर्म। धर्म शब्द धृ धातु से बना है। धातु का अर्थ मूलया जड़ है, जिसे अंग्रेजी में रूट कहते हैं। तो 'धृ' धातु का अर्थ है—धारण करना, वनाये रखना। वस्तु की इकाई को सभाल कर रखना धर्म है। धारण करने की—वनाये रखने की सभाल कर रखने की शक्ति का नाम धर्म है। यह जड़ और चेतन रूप विश्व जिसके कारण आज तक जो नष्ट न होने पाया और न नष्ट होने पाएगा और जिसने अपने कंधों पर इसे सभाल-रक्खा है, वह धर्म है। इस प्रकार समग्र विश्व को धारण करके रखने वाली जो महाशक्ति है, उसी को धर्म कहते हैं। जड़ में जड़ धर्म है और चेतन में चेतन धर्म है। भोजन में भूख मिटाने का धर्म है और औषध में रोग नष्ट करने का धर्म है। इसी प्रकार पानी में प्यास मिटाने का विष में मारने का और अमृत में जिलाने का धर्म है। तो पदार्थों में जो अपने अपने स्वाभाविक गुण हैं, उन्हीं का नाम धर्म है।

एक-एक वस्तु में अनंत-अनत धर्म विद्यमान हैं। जितना-जितना हमारी बुद्धि का वल होगा, उतने-उतने धर्म हमें प्रतीत होते चले जाएगे।

वस्तु मे जितने धर्म हैं उतने ही नय हैं। धर्म अनन्त हैं, अतः नय भी अनन्त हैं। तथापि संक्षेप से सात नय माने गये हैं। उनमें से एक्य-दृष्टि का नाम सग्रह नय है। सग्रहनय विविध वस्तुओं में समान धर्म को खोज कर एकता स्थापित करता है। वह संग्रह करने का भाव रखता है। मान लीजिए किसी ने कहा—वगीचा है। तो उस वगीचे में क्या है? उसमें केले संतरे अमरूद, नासपाती और अंगूर आदि हैं। और भी अनेक प्रकार के वृक्ष हैं। जब अनेक वस्तुएं उसमें हैं तो एक ही नाम से उसे क्यों कहा गया? अरे भैया

वगीचा कहने में ही सब वस्तुओं का समावेश हो गया। कोई भी चीज उससे बाहर नहीं रही। इसी प्रकार नगर कहने में अग्रवाल, ओसवाल, पोरवाल, खडेलवाल, दस्सा, बीसा, हिन्दू मुसलमान, मकान, सड़क आदि सब पदार्थ अन्तर्गत हो गये। इन सब इकाइयों का नाम ही नगर है। इस प्रकार अनेकों को एक रूप में ग्रहण करना संग्रह नय है।

तो संग्रहनय ने मिथ्या ज्ञान को और सम्यग्ज्ञान को एक ज्ञान के रूप में सग्रह कर लिया है। ठाणाग सूत्र में कहा है—'अट्ठविहे णाणे पण्णत्ते,' अर्थात् ज्ञान आठ प्रकार का है। यहा पाचों ज्ञानों (सम्यग् ज्ञानों) और तीनों अज्ञानों (मिथ्या ज्ञानों) को सामान्य रूप से सग्रहनय की अपेक्षा से ज्ञान कहा है। ध्यान में रखना चाहिए कि तीन अज्ञान भी क्षयोपशमिक भाव में हैं। वे भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। अतएव वे भी वस्तु को जानते हैं। अन्तर जो है वह यही कि ये अज्ञान मिथ्या रूप से जानते हैं, फिर भी जानते तो हैं ही। यहा अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, परन्तु मिथ्या ज्ञान है, कुत्सित ज्ञान है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार कुत्सित अर्थ में भी नञ् समास होता है।

इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान दोनों का काम जानना है। इनमें जानने का गुण एक-सा है। वस्तु की जानकारी की तरफ दोनों अग्रसर होते हैं, अतएव दोनों ही ज्ञान मान माने गये। अतएव जहा तक संग्रहनय का सम्बन्ध है ज्ञान और अज्ञान ज्ञान में ही सम्मिलित हैं। हा, भेद की प्रधानता वाले व्यवहारनय की अपेक्षा इन्हें अलग-अलग भी किया जा सकता है। अर्थात् जब दोनों की विशेपतापर ध्यान दिया जाता है तो वे भिन्न-भिन्न होते हैं।

एक स्टेशन पर कई लाइनें होती है। कोई व्यावर की कोई विजय नगर की कोई दिल्ली की और कोई कहीं की। मगर स्टेशन की सीमा में वे सब लाइनें स्टेशन की ही कहलाती हैं और स्टेशन की सीमा के बाहर अलग-अलग हो जाती हैं और पृथक पृथक नाम से पुकारी जाती हैं। इसलिए स्टेशन का जहा तक सम्बन्ध है, सब लाइनें व्यावर स्टेशन की ही

समझी जाती हैं किन्तु स्टेशन की हद खत्म होते ही लोग कहते हैं—यह अजमेर की लाइन है और यह अहमदावाद की है। इसी प्रकार सग्रहनय ने दोनों को ज्ञान कह दिया, किन्तु जब हम उनमें भेद की दृष्टि को प्रधानता देंगे, तब दोनों को अलग अलग कर देंगे। जैसे स्टेशन की हद के बाहर लाइन के साथ अजमेर या अहमदावाद शब्द जोड़ दिये गये और उनमें भेद कर दिया गया उसी प्रकार ज्ञान के साथ 'सम्यक्' और 'असम्यक्' शब्द जोड़ कर दोनों को पृथक-पृथक कर दिया जाता है। सम्यग्ज्ञान 'ज्ञान' और मिथ्याज्ञान 'अज्ञान' कहलाने लगता है। इस प्रकार सग्रहनय से दोनों को ज्ञान कहा गया है और भेदप्रधान व्यवहारनय से पृथक पृथक हैं।

नयसिद्धान्त को न समझने वाला शका कर सकता है कि वाह साहब! ज्ञान और अज्ञान को शामिल कैसे कर दिया दोनों में तो बड़ा भेद है। तो एक उदाहरण और लीजिए – आप लोग जब काल की गणना करते हैं तो कहते हैं—'इतने वर्ष मास, पक्ष और दिन हुए।' इस कथन में आपने दिन और रात को शामिल कर लिया। किन्तु जब इस कथन के ब्यौरे में उतरोगे तो फिर हिसाब करके बताओगे कि इतने वर्ष महीने, पखवाड़े सप्ताह, दिन और रात हुए। फिर कोई पूछेगा कि इसमें कितने दिन और कितनी रातें हुई तो आप उसे अलग करके बता देंगे कि इतने दिन और इतनी रातें हुई। दिन में गणना करोगे तो रात्रि सख्या कम होगी और रात्रि में गणना करना करोगे तो दिन संख्या कम हो जायगी।

इसी प्रकार भद्र पुरुषों जब हम सग्रहनय की दृष्टि से विचार करते हैं तो ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) को सम्मिलित कर लेते हैं और जब व्यवहारनय से सोचते हैं तो सम्यक्ज्ञान ज्ञान है और मिथ्याज्ञान अज्ञान है। यद्यपि सम्यग्ज्ञान दिन है और मिथ्याज्ञान रात्रि है, फिर भी उन्हें सम्मिलित किया जा सकता है।

जिस प्रकार सम्यग्ज्ञानी को पदार्थों का बोध होता है । उसी प्रकार मिथ्या-ज्ञानी को भी होता है । किन्तु एक का ज्ञान दिन और दूसरे का ज्ञान रात्रि के समान है । मिथ्याज्ञानी जानता हुआ भी समीचीन नहीं जानता और सम्यग्-ज्ञानी जो जानता है, समीचीन जानता है ।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान उत्पन्न हुआ । अब यदि उसके साथ मिथ्यात्व लगा है तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जायगा और यदि उस ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन है तो वह सम्यग्ज्ञान होगा । इसलिये मैं बार-बार कहता हू कि सत्य तत्व को समझने के लिए हमें सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता है । इसके बिना काम चलने वाला नहीं है ।

श्री आचारांग सूत्र के द्वितीय अध्ययन के तीसरे उद्देशक में बतलाया है कि मिथ्यादृष्टि जीव सन्मार्ग से भटक जाता है, पिछड़ जाता है और अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच पाता है । उसे अपने ध्येय में सफलता नहीं मिलती । सम्यग्दृष्टि विजयी होता है, मिथ्यादृष्टि पराजित होता है । इस विषय में श्री आचारांग सूत्र के उक्त प्रकरण की टीका में एक बड़ा ही सुन्दर रूपक दिया गया है । दृष्टान्त द्वारा इसकी पुष्टि की गई है—

किसी नगर में उदयसेन नामक राजा रहता था । वह पुण्यशाली था । जब वह जन्मा तो ऋद्धि-सिद्धि की वृद्धि हुई, अतएव माता-पिता ने उसका नाम 'उदय' रक्खा । उदयसेन राजा बड़ा समृद्धि शाली था । उसका विशाल राज्य था । वह दाता और भोक्ता भी था, मक्खीचूस नहीं था । उसके दो पुत्र थे । एक का नाम वीरसेन और दूसरे का नाम शूरसेन था ।

सज्जनो ! कर्म के खेल बड़े विचित्र होते हैं । किसी कवि ने कहा है—

एक बाप के दो बेटे, किसमत जुदा-जुदा है ।
एक बादशाह जहां का, एक फिर रहा गदा है ॥
मिट्टी तो एक ही है, जो जीव पैदा होते ।

एक तो बनी है नारी, एक मर्द बन खड़ा है ॥
चांदी तो एक ही है, जिससे बने दो जेवर।
एक शीश का मुकुट है, एक पैर का कड़ा है ॥
पत्थर तो एक ही है, हाथों मे कारीगर के।
एक की तो होती पूजा, एक फर्श में जड़ा है ॥
एक सीप ही से दोनों, मोती हुए हैं पैदा।
एक तो खरल मे आया, एक ताज मे जड़ा है ॥

हाँ, तो सज्जनों! कर्मों के उतार-चढ़ाव बडे ही विचित्र और विषम होते हैं। एक ही बाप के दो बेटे हैं, मगर भाग्य दोनों का अलग-अलग है। देखो, यह मिट्टी भी मिट्टी है और सोना, चादी, पीतल, हीरा आदि भी मिट्टी ही हैं। सज्जनो! सूबा पजाब में भिवानी एक नगर है। वहा हिन्दुओं का प्रभुत्व है और दान-पुण्य करने वाले बहुत रहते हैं।

भिवानी से हाँसी की ओर जाते एक भिवानी खेड़ा नामक गाव है। हम एक बार वहाँ पहुंचे और दादूपथियों के मन्दिर में ठहरे। वहा एक बूढ़ा दादूपंथी बाबा था। वह माला फेर रहा था—'दादू राम के दादू' यह उसकी रट थी। मगर उसकी बोली वहा की बोली से मेल नहीं खाती थी। मैंने पूछा—आप कहा के हो? उसने कहा—बाप जी, जयपुर रो हूँ। मैंने पूछा—वहा के जैन जौहिरियों को जानते हो? उसने कहा—हा, मैं सब को जानता हूं। उसने चार-पाच के नाम भी गिनाये। लेकिन एक मार्के की बात यह कही कि मैं उन सब भाटे (पत्थर) बेचने वालों को खूब जानता हूँ।

सज्जनो! वास्तव में तो वे हीरे पन्ने पत्थर ही हैं। मगर देखो भाग्य का खेल। वह मिट्टी तो एक ही है जिससे सब पैदा होते हैं, किन्तु रूप-रंग सबके अलग-अलग हैं। कोई काला है, कोई नीला है, कोई पीला है, और कोई सफेद है। कोई फूटरा (सुन्दर) है जिसे देख कर कह देते हैं कि यह

देव है और कोई ऐसी शक्ल का है कि देखने को भी जी नहीं चाहता। और भी सुनिये। एक ही सीप से मोतियो का जोड़ा उत्पन्न हुआ। उनमें से एक को हकीम ने खरल में डाल कर घोट दिया, उसका कुश्ता बना दिया और सेठ जी उसे दवा में चाट गये। वह पेट में चला गया। उसने मल-मूत्र का रूप धारण कर लिया। उसकी चमक विष्ठा में विलीन हो गई। उसे कोई देखना भी पसद नहीं करता। और दूसरा मोती बादशाह के सिर पर चढा है। कितना अन्तर है!

कारीगर के हाथ में पत्थर तो सरीखा ही है, किन्तु उसने एक पत्थर की कृष्ण, या शिव आदि की मूर्त्ति बना दी, जिसके आगे लोग नतमस्तक होते हैं। फल-फूल चढाते हैं। क्योंकि जैसी पुरुष की श्रद्धा होगी, वह उसी तरफ झुकेगा। तो एक की लोग पूजा करने लगे और दूसरा उसका ही सहोदर भाई है, जिसने उसी खान से जन्म लिया है, वह पाखाने में लगा दिया जाता है। कहिए, कितना अन्तर हो गया!

और भी सुनिए। एक आदमी दो लोटे पानी लाया। उसमें से एक लोटा पानी शिवजी पर चढ़ाया जा रहा है और दूसरा लोटा अशुचि साफ करने के काम आ रहा है। एक ही चन्दन की लकड़ी के दो टुकड़े हैं। एक शिवजी पर चढ रहा है और दूसरा मुर्दे के साथ जल रहा है।

तो इस प्रकार सज्जनो! माता-पिता एक होने पर भी सन्तानों के भाग्य में अन्तर पड़ जाता है।

उदयसेन राजा के दो पुत्रों में भी ऐसा ही अन्तर था। वीरसेन अन्धा था। उसने सोचा-मैं लिखना-पढ़ना तों सीख नहीं सकता, मुझे सगीत विद्या सीख लेनी चाहिए। आखिर वह बड़ा भारी सगीताचार्य हो गया। दूसरे शूर-सेन ने धनुर्विद्या सीखी और वह भी उसमें अत्यन्त कुशल हो गया। उसकी महिमा लोगों की जबान पर छा गई। अपने भाई की प्रशंसा सुन कर वीरसेन

को भी धनुर्विद्या सीखने की इच्छा हुई। वह भी अपने भाई के समान यश चाहता था। मगर पिता ने कहा—तुम नेत्रहीन हो और धनुर्विद्या में नेत्रों की बहुत आवश्यकता पड़ती है। मगर वीरसेन ने जब अत्यन्त आग्रह किया तो पिता ने सीखने की आज्ञा दे दी। उसने शब्दवेधी बाण चलाने की विद्या सीख ली। योग्य शिक्षक मिल जाने के कारण वह जल्दी होशियार हो गया।

एक बार किसी राजा ने उदयसेन पर चढ़ाई कर दी। क्योंकि जगत् में जर, जोरू और जमीन के झगडे जारी ही रहते हैं। तो जब दुश्मन सिर पर चढ़ आया और उसने युद्ध के लिए ललकारा तो वीरसेन ने कहा—'पिता जी, मुझे आज्ञा दीजिए। मैं अपनी धनुर्विद्या से देश की रक्षा करूँगा।

पिता ने कहा— विद्या तो तुमने सीखी है, पर तुम नेत्रहीन और अभी लघुवयस्क हो, अत तुम्हें नहीं जाना चाहिए।

वीरसेन ने विश्वास के साथ कहा—बालक हू तो भी सिंह का हूँ। मैं अवश्य जाऊगा।

आखिर वह गया। जब शत्रु को मालूम हुआ कि उदयसेन का बड़ा पुत्र वीरसिंह युद्ध करने आया है और वह अन्धा है, तो शत्रु राजा ने अपने सैनिकों को हिदायत कर दी कि कोई आवाज न करे। वीरसेन शब्दवेधी बाण चलाने में निष्णात है। अगर हमारी ओर से कोई बोलेगा नहीं तो उसे सहज ही पराजित किया जा सकेगा। ऐसा ही हुआ। किसी ने आवाज नहीं की और वीरसेन के तीर तर्कश में ही सुशोभित होते रहे। आसानी से ही वह कैद कर लिया गया।

जब यह समाचार उसके भाई शूरसेन तक पहुंचा तो पिता की आज्ञा लेकर वह युद्ध भूमि में आ कूदा। उसने धनुष-विद्या के द्वारा दुश्मन का तगड़ा मुकाबिला किया। वह आखों वाला भी था और युद्ध कला में कुशल भी था। उसके एक-एक निशान ने दुश्मन को छठी का दूध याद दिला दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा, माना चारों ओर बिजली ही बिजली कौंध रही

हो। शूरसेन की शूरता और कुशलता से दुश्मन के सैन्य में कुहराम मच गया। प्रतिपक्षी सैनिक एक-एक करके धराशायी होने लगे। शेष बचे सैनिक अपने राजा के साथ दुम दबा कर भाग खड़े हुए। उसने अपने भाई को छुड़ाया, अपनी विजय पताका फहराई और लौट कर पिता के चरणों में प्रणाम किया।

सज्जनो! यह तो दृष्टान्त है। अन्धे, लूले, लँगड़े तो होते ही हैं, किन्तु यहा आशय यह है कि वीरसेन के पास विद्या तो थी, पर नेत्र नहीं थे, अतएव उसे पराजित होना पड़ा। शूरसेन विद्यावान् भी था और नेत्रवान् भी था, अतएव वह विजयी हुआ। इसी प्रकार जिनके पास विद्या है, और जो क्रियाए भी बहुत करते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन रूपी नेत्रों से विहीन हैं, वे कर्म रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते और मोक्ष का साम्राज्य हासिल नहीं कर सकते। अतएव ज्ञान और चारित्र की कला के साथ सम्यग्दर्शन भी होना चाहिए। जिन्हें सम्यक्त्व प्राप्त है, जो सम्यग्दर्शन रूपी नेत्रों से सम्पन्न है, वही कर्मशत्रुओं पर सफलता पूर्वक विजय प्राप्त कर पाता है, वही अपनी आत्मा को स्वाधीन बनाता है और मुक्ति रूपी साम्राज्य श्री को प्राप्त करता है।

भद्र पुरुषो! शास्त्रकारो ने आत्मा को पहचानने के लिए क्यों अधिक जोर दिया है? इसीलिए कि आत्मा को पहिचाने बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती और सम्यग्दर्शन के बिना ध्येय की सिद्धि नहीं होती। अतएव शास्त्र कार पुन पुन प्रेरणा करते हैं कि तू अपने स्वरूप को पहचान। समझ कि तू कौन है? कहा से आया है? कहा जाना है? इस प्रकार जो बोध प्राप्त करते हैं, वही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

तो मुमुक्षु आत्माओं, मैं कहने जा रहा था कि सम्यग्दर्शन के बिना यह मैदान फतह होने वाला नहीं है। सम्यग्दर्शन के दिव्य आलोक में जब आप ज्ञान और चारित्र के तीखे तीर चलाएगे तब कर्मशत्रुओं के दल में कुहराम मच जायगा और आत्मा को विजय श्री की प्राप्ति होगी। वह विजय क्षणिक नहीं,

शाश्वतिक होगी। परम और चरम विजय होगी भौतिक विजय की तरह वह कदापि पराजय के रूप में परिणत नहीं होगी। वह विजय आपको तीन लोक का नाथ, बनाएगी, स्वर्ग का राजा-इन्द्र भी आपके पादपद्मों में प्रणत होगा। आप अक्षय और अनन्त साम्राज्य के अधीश्वर बन जाएगे। तथाऽस्तु।

ब्यावर
१८-८-५६